UNIVERSAL
LIBRARY

OU_178837

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H 83 K45H Accession No. P.G.H 5863

Author

Title

This book should be returned on or before the date last marked below.

आधा इंसान

[सामाजिक उपन्यास, जिसमें लेखक के व्यक्तित्व और कला पर प्रसिद्ध कथाकार कृष्ण चन्द्र का इन्टरव्यू शामिल है।]

ख़्वाजा अहमद अब्बास

नीलाभ प्रकाशन गृह
इलाहाबाद १.

प्रथम संस्करण १९५३

मूल्य [illegible]

प्रकाशक
नीलाभ प्रकाशन गृह, ५, खुसरो बाग़ रोड, इलाहाबाद १.
मुद्रक
जॉब प्रिन्टर्स, ९९, हीवेट रोड, इलाहाबाद

अब्बास—व्यक्तित्व और कला

कृष्ण चन्द्र

कृष्ण— अपनी जन्म तिथि याद है ? मेरा मतलब साहित्यिक-जन्म-तिथि से है।

अब्बास— यों तो मैं अपने जन्म से बहुत पहले पैदा हो गया था, लेकिन.....

कृष्ण— जन्म से पहले !.....कैसे ?

अब्बास— मेरा अभिप्राय साहित्य, शिक्षा और संस्कृति के उत्तराधिकार से है जो मेरे पैदा होने से पहले मेरे यहाँ वर्त्तमान था। हाली की शायरी में मेरा जन्म हुआ। किताबों और पत्रिकाओं में पला और बढ़ा। तुम मुझे सही मानों में किताबों का कीड़ा कह सकते हो। ननिहाल हाली का ख़ानदान था। चचा ख़्वाजा गुलामुस्सक़लैन

वकील राजनीति और साहित्य के रसिया थे। हाली के बेटे ख़्वाजा सज्जाद हुसेन, अलीगढ़ युनिवर्सिटी के पहले मुस्लिम ग्रेजुएट, मेरे नाना थे। घर की औरतें 'तहज़ीबे निसवाँ'* में बाकायदा लिखती थीं। इस साहित्यिक उत्तराधिकार को लेकर.....

कृष्ण— (बात काटकर) लेकिन सब कुछ उत्तराधिकार ही तो नहीं है। आदमी सब कुछ उत्तराधिकार ही से तो नहीं बनता। उसके विकास में बहुत से तत्व काम करते हैं। मुझी को देख लो, बाप डाक्टर, किन्तु आर्य-समाजी। लेक्चर झाड़ने के बड़े शौकीन। माँ कुँआरपने में कविता किया करती थीं। लोक-गीत क़िस्म की चीज़ें हुआ करती थीं वे। मैं जब स्कूल में पढ़ा करता था, उन्होंने मुझे अपने गीतों की एक पाण्डुलिपि दिखाई थी। हो सकता है, उसे उन्होंने अब तक सँभालकर रखा हो। लेकिन इसके बावजूद हमारे घर का वातावरण बिलकुल साहित्यिक नहीं था। जाने विवाह के बाद मेरी माँ जी को ऐसी किताबों से चिढ़ क्यों हो गई थी, जिन्हें लोग साहित्यिक कहते हैं। मुझे मालूम है, पहली साहित्यिक किताब, जो मैंने पढ़ी, वह 'अलिफ़ लैला' थी। माँ जी ने उसे फाड़ कर बाहर फेंक दिया। दूसरी किताब प्रेमचन्द की 'प्रेम पचीसी' थी। माँ जी ने उससे भी यही सलूक किया। मेरे दोस्तों में भी किसी को पढ़ने-लिखने का शौक़ नहीं था। मुझे स्वयं छुटपन में पहलवानी का बहुत शौक़ था।

अब्बास— पहलवानी का तो नहीं, लेकिन दूसरे खेलों का मुझे भी बहुत शौक़ था। फुटबाल, हाकी, क्रिकेट, टेनिस—सब

*तहज़ीबे निसवाँ=उर्दू की एक मासिक पत्रिका

खेल मैंने खेले, लेकिन किसी में सफलता न मिली। इस चीज़ का मुझे बहुत मलाल रहा। अरसे तक यह बात दिल में खटकती रही कि मैं एक बड़ा स्पोर्ट्समैन बनना चाहता था, लेकिन न बन सका। दरअसल मेरा छोटा कद और मेरा सन्दिग्ध किस्म का स्वास्थ्य (मुझे हमेशा नज़ले की शिकायत रही) मेरे मन में एक तरह का हीन-भाव पैदा करने का कारण बने और मैंने सोचा कि अगर मैं खेलों के मैदान में सफल नहीं हो सका, तो मुझे जीवन के किसी दूसरे क्षेत्र में सफलता प्राप्त करनी चाहिए। फिर मैंने देखा कि जो लोग अच्छा बोल लेते हैं, अच्छी बहस कर लेते हैं, उनकी बड़ी आवभगत होती है। स्कूल के वाद-विवादों में, कालेज और युनिवर्सिटी के मुकाबिलों में मैंने भाषण-कला में बड़ी सफलता पाई। और तुम जानते हो, अच्छे बोलने का अच्छे लिखने से कितना गहरा सम्बन्ध है। यही विचार मुझे साहित्य के मैदान में खींच लाया। कई बार सोचता हूँ, यदि मैं खेलों के मैदान में सफल हो जाता, तो मर्चेण्ट या मुश्ताक की तरह एक सफल खिलाड़ी होता।

कृष्ण— और मैं एक मशहूर पहलवान होता.....लेकिन मैं इस बात को तुम्हारे या अपने हीन-भाव से सम्बद्ध नहीं करूँगा। क़द तो मेरा भी छोटा है और नज़ले की शिकायत मुझे भी सदा रहती है, पर मेरे साहित्य-क्षेत्र में आने का यही एक कारण नहीं हो सकता। मैं इसे यों समझता हूँ कि जब मनुष्य की शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक उन्नति किसी एक दिशा में रुक जाती है और भरसक कोशिश करने पर भी उस दिशा में आगे

बढ़ने का उसे कोई रास्ता नहीं मिलता, तो मनुष्य पराजय स्वीकार नहीं करता। वह अपनी उन्नति के दूसरे मार्ग खोज लेता है, क्योंकि विकास मनुष्य की चेतन-प्रकृति का सहज स्वभाव है।

अब्बास— हाँ, इसकी दार्शनिक व्याख्या यों भी हो सकती है।

कृष्ण— लेकिन मेरा वह पहला सवाल तो बीच ही में रह गया। तुम साहित्य-क्षेत्र में कब आये ?

अब्बास— उन्नीस सौ पैंतीस में। बम्बई में एक कहानी लिखी थी—'अबाबील' और वह जिसे कहते हैं—एक रात में मशहूर हो जाना—बस यों समझो कि मैं एक कहानी लिखकर मशहूर हो गया। उसका अनुवाद संसार की लगभग सभी सभ्य भाषाओं में हो चुका है। अँगरेज़ी, रूसी, जर्मन, स्वेडिश, अरबी, चीनी इत्यादि...इत्यादि। जर्मन भाषा में संसार की सर्व-श्रेष्ठ कहानियों का एक संकलन छपा है! उसमें वह कहानी शामिल की गई। इसी तरह डाक्टर मुल्कराज आनन्द और इक़बाल सिंह ने जो संकलन किया है, उसमें भी वह कहानी शामिल है।

कृष्ण— उस कहानी का विषय क्या है ? माफ़ करना, मैंने उसे नहीं पढ़ा।

अब्बास— वह एक ज़ालिम किसान के जीवन से सम्बन्ध रखती है।

कृष्ण— तुम्हें किसानों के जीवन के बारे में क्या मालूम है ?

अब्बास— अजीब बात है कि वह कहानी लिखते समय किसानों के बारे में मेरा ज्ञान नहीं के बराबर था। कारण ? उनके जीवन-सम्बन्धी मेरा व्यक्तिगत अनुभव बहुत कम था। शून्य ही समझो, इसलिये कि मैं आजतक गाँव में नहीं

रहा। किसानों के जीवन से बिलकुल अनभिज्ञ हूँ, परन्तु वह कहानी न केवल राष्ट्रीय दृष्टि से, बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय साहित्य की दृष्टि से भी बहुत उच्च कोटि की समझी जाती है।

कृष्ण— यह कैसे हो सकता है कि तुम्हें किसानों के जीवन के बारे में कुछ ज्ञान न हो और तुम उनके सम्बन्ध में इतनी अच्छी कहानी लिख सको ?

अब्बास— यह तो मैं नहीं कह सकता कि मुझे किसानों के बारे में कुछ भी मालूम न था। यक्तिगत रूप से मैंने उन्हें देखा और जाना न था, लेकिन घर के राजनीतिक वाद-विवाद में और बाहर की दुनिया में किसानों की चरचा अकसर होती रहती थी। राजनीति और अर्थ-शास्त्र की पुस्तकें पढ़कर भी उनकी दरिद्रता से परिचित हो चुका था। अलीगढ़ में हर इतवार हम एक ही विचार के कुछ विद्यार्थी 'सोशल सर्विस' के बहाने देहात में पहुँच जाया करते थे और वहाँ किसानों के जीवन का अध्ययन करने का प्रयास करते थे।

कृष्ण— तुमने अपने ननिहाल के बारे में तो सुनाया, लेकिन ददिहाल के बारे में कुछ नहीं बताया।

अब्बास— मेरे दादा किसान थे।

कृष्ण— देखो, अब 'अबाबील' पकड़ी गई। कहाँ जाकर इस ने घोंसला बनाया !

अब्बास— अजीब बात है... .. अब मुझे याद आ रहा है कि मेरे दादा किसान थे। पर वे अपने वंश को आगे बढ़ते, तरक्की करते हुए देखना चाहते थे। लेकिन खेती में नहीं, व्यापार में। उन दिनों, तुम जानते हो, ख़ास तौर पर

मुसलमान व्यापार में बहुत पीछे थे। मेरे दादा ने कपड़े की दुकान खोली, पर उन्हें व्यापार नहीं फला। कुछ ही दिनों में दादा के दोस्त और रिश्तेदार दुकान का सारा कपड़ा उधार ले गये और उन्हें दुकान बन्द कर देनी पड़ी। फिर उन्होंने अपने लड़कों की शिक्षा पर ध्यान दिया। ज़मीन की पैदावार से तो वे अपने बच्चों को पढ़ा नहीं सकते थे, इसलिए उन्होंने ज़मीन का एक तिहाई टुकड़ा बेचा और अपने एक लड़के को पढ़ाया। फिर दूसरा टुकड़ा बेचा और दूसरे लड़के को पढ़ाया। बेटे पढ़ गये और ज़मीन ख़तम हो गई। इसलिए जब मेरे दादा मरे, तो मेरे पिता को उत्तराधिकार में एक टुकड़ा भी न मिला।

कृष्ण— तो तुम एक 'बे-ज़मीन' किसान के बेटे हो ?

अब्बास— हाँ।

कृष्ण— इससे यह बात भी प्रकट होती है कि एक अच्छी रचना के लिये यह आवश्यक नहीं कि लेखक का अनुभव प्रत्यक्ष हो। वह प्रत्यक्ष भी हो सकता है और परोक्ष भी।

अब्बास — हाँ। मिसाल के तौर पर एक हत्यारे के चरित्र की रचना के लिए यह आवश्यक नहीं कि लेखक ने स्वयं भी हत्या की हो या एक वेश्या के जीवन का वर्णन करने के लिए यह जरूरी नहीं है कि लेखक स्वयं भी किसी वेश्या के साथ सो चुका हो।

कृष्ण— तुम कभी सोये हो ?

अब्बास— नहीं।...और तुम ?

कृष्ण— इण्टरव्यू मैं कर रहा हूँ कि तुम ? मेरे सवाल का जवाब

दो, क्यों नहीं साये

अब्बास— नहीं सो सका। एक बार कुछ दोस्त घसीटकर मुझे उस महफ़िल में ले भी गये, पर मैं जल्द ही वहाँ से भाग आया। दरअसल कृष्ण, बात यह है कि मनुष्य ने अपने सांस्कृतिक प्रयास से यौन-क्रिया को प्रेम के उस ऊँचे स्तर पर पहुँचा दिया है, जहाँ से नीचे गिरना पशु बनने के बराबर है।

कृष्ण— तुमने कभी प्रेम किया है ?

अब्बास— हाँ।

कृष्ण— शादी से पहले या शादी के बाद ? डरो नहीं.... तुम्हारी बीवी यहाँ मौजूद नहीं, इसलिए साफ़-साफ़ बता सकते हो।

अब्बास— बीवी से मैं डरता नहीं, न मेरी बीवी मुझसे डरती है। हम दोनों एक दूसरे के बहुत गहरे दोस्त और साथी हैं। वह मेरे सारे भेद जानती है। उसे मेरे उस प्रेम का भी पता है, जो शादी से बहुत पहले की बात है। असल में उस प्रेम की असफलता ने ही मुझसे 'अबाबील' के बाद दो और कहानियाँ लिखवाईं 'फ़ैसला' और 'एक लड़की'। और ये दोनों कहानियाँ 'ग़मे-जानाँ'* के दो विभिन्न पहलुओं का ख़ाका खींचती हैं। 'फ़ैसला' में मैं बहुत भावुक हो गया हूँ, लेकिन 'एक लड़की' में उस प्रेम को हास्य द्वारा जीतने और उस पर क़ाबू पाने की कोशिश करता हूँ।

कृष्ण— य नी ज़िन्दगी प्रेम पर भी हावी है ?

---

*ग़मे जानाँ = प्रिय का दुख

अब्बास— कुछ समझ लो। परन्तु मेरा यह प्रेम बड़ा अजीब-सा प्रेम था। वह बेहद हसीन थी। साहित्यिक अभिरुचि रखती थी। हम लोग घण्टों पास बैठे बातें करते रहते। पर तुम विश्वास न करोगे, मैंने उसे कभी हाथ से भी नहीं छुआ। कभी प्रेम का एक शब्द भी मुँह पर नहीं लाया।

कृष्ण— यही तुम्हारी सबसे बड़ी भूल थी, प्यारे!

अब्बास— साले.....पर उसे मेरे प्रेम का पता था।

कृष्ण— फिर शादी क्यों न हो सकी?

अब्बास— शायद उसके ख़ान्दान वाले न चाहते थे। और मेरे ख़ानदान वाले तो बहुत ही ख़िलाफ़ थे। लेकिन इस विरोध से भी ज़्यादा दिलचस्प पहलू यह है कि अपने प्रेम की असफलता का बोझ सीने पर लिये हुए जब मैं आख़िरी बार उससे मिलकर घर लौट रहा था, तो रास्ते में मौत के एक अजीब से एहसास ने मुझे घेर लिया। मेरा दम घुटने लगा और मुझे महसूस हुआ कि मैं अभी-अभी रास्ते ही में मर जाऊँगा। लेकिन जब मैं रेलवे स्टेशन पर पहुँचा और लोगों की भाड़-भाड़ देखी, तो स्टेशन की उस चहल-पहल में मेरा वह मूड ख़त्म हो गया। इसी तरह का एहसास फिर एक बार मुझे हुआ। वह भी अपनी उसी प्रेमिका को देखकर। उसकी शादी के आठ दस वर्ष बाद जब फिर उससे अचानक मेरी भेंट हो गई तो उससे बिछुड़ते समय फिर बड़ी तीव्रता से मुझे ऐसा लगा मानो मेरा दम घुटा जा रहा है, साँस रुकी जा रही है। या तो मेरा सीना फट जायगा या हृदय की गति रुक जायगी। यह अजीब तरह की शारीरिक अनुभूति थी, जो फिर उसके घर से बाजार तक आते

आते रास्ते की चहल-पहल में आपसे आप खो गई। इसी अनुभूति को मैंने एक अप्रकाशित उपन्यास में यों बयान किया है :

"...आखिरकार वह रो पड़ा और उसके सीने में दुख की सारी घुटन आँसुओं के प्रबल वेग में बदल गई। मसजिद के विशाल, खुले दालान में खड़े होकर, ऊँचे मीनारों के साये में उसने अपने आपको नितान्त बेबस, अकेला, असहाय और अनदेखे जुल्म देने वाली उस नियति से भयभीत पाया, जिसे वह अभी-अभी अच्छी तरह कोस चुका था। उसने अपने आँसू पोंछ लिये और थकान से लड़खड़ाता-सा बाहर चला आया और सोचने लगा— क्या प्रेम के बिना जीवित रहा जा सकता है !

पूर्वी द्वार से बाहर निकलते हुए वह कुछ क्षण के लिये ऊंची-ऊँची सीढ़ियों पर खड़ा हो गया। सामने प्राची के क्षितिज पर गुलाब में सोना घुल रहा था। नीचे लोग-बाग काम-काज के लिये बाहर निकल रहे थे। सफेद साड़ियाँ पहने स्त्रियाँ नदी की ओर जा रही थीं। एक ट्राम शोर मचाती हुई आई और गुज़र गई एक धचके के साथ—जो तुरन्त एक गहरे सन्नाटे में समा गया। उसे लगा कि उसके प्रेम की असफलता के बाद भी दुनिया खतम नहीं हुई है ! जीवन उसी तरह चल रहा है। सुबह होती है, लोग काम करते हैं और खेलते हैं।

ज़िन्दगी में मौत और मौत में ज़िन्दगी आती है।

और तब उसे याद आया कि 'ग़ालिब' ने जो कुछ कहा था वह ठीक था। एक गूँज के साथ उसके विचार उसके पास लौट आये। एक ओर सृजन थी और दूसरी ओर मृत्यु! और दोनों के बीच दुख और पीड़ा का एक लम्बा सिलसिला था। लेकिन उस सिलसिले में ज़िन्दगी भी थी। वह ज़िन्दगी जो उसके सामने एक फूल की तरह स्वच्छ थी। पुरुष और स्त्रियाँ चलती हुई, बच्चे स्कूल जाते हुए, ट्राम पसेञ्जरों से भरी हुई, अख़बार बेचने वाले लड़के—सुर्ख़ियों पर शोर मचाते हुए.....उस क्षण उसके अन्तर में अनजाने से एक नया विश्वास उत्पन्न हो गया, उस क्षण अनजाने वह अपनी उम्र से बड़ा हो गया!.....

कृष्ण— यानी ग़मे-जानाँ ग़मे-दौराँ† में बदलता ही नहीं है, ग़मे-दौराँ से ग़मे-जानाँ का इलाज भी किया जा सकता है!

अब्बास— हाँ, आन्तरिक सत्य वाह्य सत्य के अधीन है। और इन्सान के अन्दर जब प्रेम की असफलता के कारण मर जाने का ख़्याल पैदा होता है, उस समय यही वाह्य-सत्य उसे जीवित रहने की प्रेरणा देता है।

कृष्ण— लेकिन प्रेम-कहानियों के विषय में तुम्हारा क्या ख़याल है? क्या प्रेम-कहानियों का, जिन्हें कुछ लोग भूल से रूमानी कहानियाँ कह कर पुकारते हैं, प्रगतिशील साहित्य

---

† ग़मे दौराँ = दुनिया का दुख

में कोई स्थान है ?

अब्बास— प्रेम जीवन और सामाजिक यथार्थ का एक आवश्यक अंग है। प्राय: प्रेम की कटुता सारे जीवन को कटु बना देती है। यदि उस कटुता को उचित ढङ्ग से दूर न किया जाय तो कभी-कभी बड़े बुरे परिणाम निकलते हैं। इसलिये उपादेय साहित्य में हमेशा प्रेम-कहानियों की जगह रहेगी। लेकिन मैं ऐसी रूमानी कहानियों को पसन्द नहीं करता, जिन में रूमान के परदे में पलायन छिपा हुआ हो।

कृष्ण— कभी-कभी प्रेम की कटुता जीवन भर मज़ा देती है।

अब्बास— हाँ, अगर यह तीर तीरे-नीम-कश* हो।

कृष्ण— और जिगर के पार न हो। इस कटुता की तीव्र भावना की धारा यदि दूसरी ओर मोड़ दी जाय और जीवन पर आक्रमण करने के बदले यह मृत्यु पर बाज़ बनकर झपटे.....

अब्बास— तो ठीक है। नहीं तो यह रोग आदमी को 'फ़ानी'† बना देता है। मुझे इस पर हंगरी की एक कहानी याद आती है। एक आदमी को बड़ी प्यास लगी थी और यह प्यास किसी तरह न बुझती थी। किसी ने कहा, पानी पी लो। परन्तु प्यासे की प्यास किसी तरह न बुझी। फिर

---

*कमान को आधी दूरी तक खींच कर छोड़ा गया तीर—
तेरे तीरे-नीम कश को कोई मेरे दिल से पूछे,
यह खलिश कहाँ से होती जो जिगर के पार होता।' —गालिब
नीम-निगाह को उर्दू कवि तीरे-नीम-कश कहते हैं।

†फ़ानी = उर्दू का एक प्रसिद्ध निराशावादी कवि !

किसी ने एक शर्बत बताया, किन्तु प्यास फिर भी न बुझी। फिर किसी ने कहा शराब पियो, लेकिन प्यासे की प्यास शराब पीकर भी न बुझी। फिर किसी ने कहा, खून पियो। प्यासे ने एक आदमी को क़त्ल किया और उसका खून पिया। उसकी प्यास अब भी न बुझी। आख़िर जब उसे फाँसी पर चढ़ाया जा रहा था, उस समय फाँसी के तख़्ते पर एकाएक उसे याद आया कि एक बार जब वह बहुत छोटा-सा था और माँ की छाती से लगा दूध पी रहा था, किसी ने उसे ज़ोर से झटक कर माँ की छाती से अलग कर लिया था और तब से वह प्यासा था। मानो उसकी जो खूनी प्यास थी वह अपने प्रथम रूप में माँ के दूध की प्यास थी.....

कृष्ण— इसी तरह मैं सोचता हूँ कि प्रेम की प्यास भी बड़ी ख़तरनाक हो सकती है।

अब्बास— यदि मैं इन सारे तत्वों को इकट्ठा करूँ जिन्होंने मेरी साहित्यिक रुचि को एक रूप दिया, तो मैं उन्हें क्रमानुसार यों रक्खूँगा—१. घर का साहित्यिक और सांस्कृतिक वातावरण, २. राष्ट्र-प्रेम की भावना जो सारे देश में राष्ट्रीय आन्दोलन के रूप में उभरी, ३. अस्वास्थ्य और ४. प्रेम में असफलता।

कृष्ण— बहुत से साहित्यकार कम या ज्यादा इन्हीं रास्तों से साहित्य-क्षेत्र में आये हैं। अच्छा, अब यह बताओ, तुमने प्रेमचन्द को कब पढ़ा था? मैं तो तुम्हें बता चुका हूँ कि मैंने प्रेमचन्द को बचपन में पढ़ा था जब मैं तीसरी क्लास में पढ़ता था.....

अब्बास— (बात काट कर) मैंने प्रेमचन्द को बाद में पढ़ा

वास्तव में मैंने प्रेमचन्द को कालिज में पढ़ा। लेकिन शुरू-शुरू में प्रेमचन्द की कहानियों का कोई विशेष प्रभाव मुझपर नहीं पड़ा। हाँ, उनकी कहानियों की अपेक्षा उनके उपन्यासों को मैंने अधिक पसन्द किया था। वह भी बहुत बाद में।

कृष्ण— बाद में प्रेमचन्द से तुमने क्या पाया ?

अब्बास— बाद में प्रेमचन्द को पढ़ कर मुझे ऐसा लगा कि जैसे मैं जिन्दगी में पहली बार अपने देहात की जनता से मिल रहा हूँ, इसके साथ ही प्रेमचन्द के उपन्यासों में मुझे अपने देश के राष्ट्रीय आन्दोलन का प्रतिबिम्ब और उसकी सफलता का उज्ज्वल भविष्य दिखाई दिया

कृष्ण— टैगोर से प्रभावित हुए ?

अब्बास— नहीं। मै वास्तव में कवियों की अपेक्षा गद्य-लेखकों से अधिक प्रभावित होता हूँ। मुझे कुछ ऐसा लगता है कि कवियो में आन्तरिकता जरूरत से अधिक पाई जाती है, इसलिए मैं टैगोर से अधिक प्रभावित नहीं हो सका।

कृष्ण— पच्छिमी लेखकों में किस-किस को चाव से पढ़ा ?

अब्बास — हार्डी को, शा को, फिर मोपासाँ को—कथाकारों में, ओ० हनरी और समरसेट मॉम को, जो वास्तव में मोपासाँ ही की छाया हैं।

कृष्ण— अमरीकी लेखकों में ?

अब्बास— अमरीकी लेखकों में 'डॉस पा सान्ज' की कला से मैंने सीखा है। स्टीन बैक और हैमिंगवे को भी बड़े ध्यान से पढ़ा है, लेकिन विषय-वस्तु के विचार से थ्योडार ड्रेज़र बहुत अच्छे लगे।

कृष्ण— और उप्टन सिनक्लेयर ? मुझे मालूम है। शुरू-शुरू में मुझे उप्टन सिनक्लेयर बहुत अच्छा लगा था। उसका उपन्यास 'तेल' और 'जंगल' मुझे विशेष पसन्द आये थे। लेकिन मुझे उसकी नयी पुस्तकें पसन्द नहीं आईं।

अब्बास— हाँ, अब उसका दृष्टिकोण बहुत बदल गया है और उसका प्रभाव उसकी कला पर, उसके पात्रों पर और उसकी अभिव्यक्ति पर तो पड़ेगा ही। यही बात तुम हैमिंगवे के बारे में भी कह सकते हैं।

कृष्ण— रूसी साहित्यिकों में से तुम्हें कौन सबसे अधिक पसन्द है ?

अब्बास— चेखव और गोर्की !

कृष्ण— और आधुनिक सोवियत लेखकों में ?

अब्बास— आधुनिक सोवियत लेखकों में.....वास्तव में मैंने नये सोवियत लेखकों को बहुत कम पढ़ा है। और जो पढ़ा है वह भी मुन्नी (मिसेज़ अब्बास) के उकसाने से, लेकिन मैं नहीं समझता कि नये सोवियत साहित्य में अब कोई भी गोर्की के समान महान् है।

कृष्ण— शोलोखोव के बारे में क्या कहोगे ?

अब्बास— शोलोखोव कहीं-कहीं बहुत ऊँचा है, लेकिन कहीं-कहीं बेतरह बोर करने लगता है। उसके उपन्यास पढ़ते हुए, कम से कम मुझे ऐसा ही लगा।

कृष्ण— गोर्की को हम लोग जो बहुत पसन्द करते हैं उसका एक कारण यह भी हो सकता है कि गोर्की जिस जीवन का वर्णन करता है वह क्रान्ति से पहले का जीवन है और वह ज़िन्दगी हमारी अपनी ज़िन्दगी से भी मिलती-

जुलती है। लेकिन आज के सोवियत लेखक जिस जीवन के बारे में लिखते हैं, उसकी सतह हमारे जीवन से बहुत ऊँची है। वहाँ ऐसे नये पात्र उत्पन्न हो चुके हैं, जिनके सोचने-समझने, काम करने का ढंग, हमसे बिलकुल अलग है, और जब हम उन इंसानों को सोवियत साहित्य में देखते हैं तो वे हमें एक तरह से अपरिचित मालूम होते हैं।

अब्बास— मैं समझता हूँ कि साहित्य सामाजिक-संघर्ष और पीड़ा से उत्पन्न होता है। आज के सोवियत समाज में ये दोनों चीजें बहुत कम हो गई हैं। एक सकारात्मक (Positive) समाज में जहाँ खुशहाली और सम्पन्नता-ही-सम्पन्नता हो, वहाँ साहित्य में, सामाजिक संघर्ष और पीड़ा की ऊँचाई कहाँ से आयेगी?

कृष्ण— सोवियत समाज के सकारात्मक (Positive) समाज होने में कोई सन्देह नहीं. लेकिन यह नहीं हो सकता कि वहाँ आज किसी क़िस्म का संघर्ष और दुख शेष न रहे। सकारात्मक समाज होते हुए भी वहाँ नकारात्मक (Negative) पात्र अवश्य होंगे। स्वयं सोवियत लेखकों में आजकल साहित्य में नेगेटिव पात्रों की ज़रूरत पर बहस छिड़ी हुई है, क्योंकि सोवियत समाज कोई एक अपरिवर्तशील समाज तो है नहीं। और जब परिवर्तनशील समाज है तो स्पष्ट ही कोई चीज़ पुरानी हो जायगी और कोई नयी पैदा होगी। और यह संघर्ष अपने आप पॉज़िटिव और नेगिटिव पात्रों को पैदा करेगी। इसलिए तुम्हें अपनी राय के लिए दूसरी दलील ढूँढनी पड़ेगी।

अब्बास— उसकी ज़रूरत नहीं। मैं दरअसल नये सोवियत साहित्य

के बारे में कोई पक्की राय नहीं रखता, क्योंकि मैंने उसे बहुत कम पढ़ा है।

कृष्ण-- तुम्हारे विचार में क्या साहित्य में राजनीति का दखल होना चाहिए ?

अब्बास-- इसके बिना साहित्य का निर्माण असम्भव है। हर चीज़ कहानी का विषय हो सकती है, चाहे वह आर्थिक हो या राजनीतिक, भौगोलिक हो या यौनिक। कहानी का विषय कुछ भी हो सकता है, लेकिन शर्त यह है कि पढ़ने में रोचक हो और इन्सानियत से ख़ाली न हो।

कृष्ण-- और कथानक के बारे में तुम्हारा क्या विचार है ?

अब्बास-- मैं तेकनिक और कथानक के बिना किसी कहानी की कल्पना ही नहीं कर सकता। वास्तव में तेकनिक और प्लाट हर कहानी में होते हैं, लेकिन किसी में गठकर आते हैं और किसी में बड़े भद्दे, ढीले-ढाले और बेडौल मालूम होते हैं। यों समझो कि सामग्री कहानी का शरीर है और तेकनिक उसका लिबास; कभी यह लिबास चुस्त और फ़िट मालूम होता है, कभी अनफ़िट और ढीला-ढाला।

कृष्ण— तुमने तो कहानीकारों को दर्ज़ी बना दिया। ख़ैर, इसे छोड़ो, क्या कहानी की तेकनिक बदल सकती है या यह कि पुराने दर्ज़ियों के सिले हुए कपड़ों की नक़ल करना ही हमारे लिए काफ़ी है ? जैसे मोपासाँ, ओ-हनरी, समरसेट मॉम और दूसरे ऐसे बड़े-बड़े उस्ताद दर्ज़ी, जिनके यहाँ बड़े ढले-ढलाये, लोहा किये हुए बँधे-बँधाए पात्र मिलते हैं, तेकनिक में हमारा आदर्श बने रहें ?

अब्बास— तेकनिक को बदलना ही चाहिए, क्योंकि तेकनिक विषय-

वस्तु के साथ बदलती है और हमारी आज की कहानियों का विषय ओ-हनरी और मोपासाँ के विषयों से अलग है। आज की ज़िन्दगी बहुत आगे जा चुकी है।

कृष्ण— सामग्री को छोड़ मुझे तो ओ हनरी और मोपासाँ की बहुत-सी कहानियां बड़ी ज्योमेट्रिक (Geometric) नज़र आती हैं। त्रिकोण का प्रत्येक कोण ठीक है। और दो और दो हमेशा चार होते हैं। मैं समझता हूँ, साहित्य गणित से कहीं भिन्न है। यहाँ कभी दो और दो तीन होते हैं और कभी दो और दो पांच भी होते हैं। क्योंकि यहाँ हम इकाइयों से बहस नहीं करते, मनुष्यों से सम्बन्ध रखते हैं।

अब्बास— यहाँ मैं तुमसे सहमत हूँ। मुझे स्वयं ओ-हनरी की अकसर कहानियों में रेखागणित का आभास अधिक और मानवीय भावनाओं तथा आवश्यकताओं का अनुभव कम होता है। उन लोगों की कहानी की तेकनिक हमारी आज की दुनिया में अधिक लाभदायक न होगी। मैंने स्वयं पहले डास पा साज और बाद में मैं तुम्हारी कुछ कहानियों के प्रयोगों से साहस पाकर अपनी कहानियों में अनेक तेकिनकी प्रयोग किये हैं।

कृष्ण— क्या लेखक का अपना चरित्र और उसका "मैं" तथा उसकी अनुभूतियाँ और विचार साहित्य में स्थान पाने की अधिकारी हैं?

अब्बास— 'साहित्य', साहित्यकार से अलग होकर कैसे पैदा हो सकता है। साहित्य एक साहित्यकार के व्यक्तित्व, उसके विचारों, भावों और अनुभूतियों की सृष्टि होता है और उससे बाहर नहीं जा सकता।

कृष्ण— इसलिए स्पष्ट ही उस 'साहित्य' की ज़ोरदार अभिव्यक्ति में उसके शब्दों के सुन्दर चुनाव में, उसकी कल्पनामयता और प्रवहमानता में उस साहित्यिक का निजत्व झलकेगा। उसके पात्रों के निर्माण और उनके काल्पनिक व्यक्तित्व में उसके अपने व्यक्तित्व, दृष्टिकोण और अनुभूतियों का प्रतिबिम्ब दिखाई देगा।

अब्बास — हाँ यह अनिवार्य है। पर यह भी जरूरी है—खासकर कहानियों और उपन्यासों में—कि यह जीवनी की किस्म का प्रभाव इतना न बढ़ जाय कि हर साहित्यिक कृति लेखक का जीवन-चरित्र मालूम हो। जीवनी को भी साहित्य का दर्जा प्राप्त होता है, किन्तु प्रत्येक साहित्यिक रचना जीवनी नहीं बन सकती। 'आप बीती' यदि 'जग बीती' भी मालूम हो तो मजा बढ़ जाता है।

कृष्ण— दूसरे शब्दों में आप अपनी व्यक्तिगत अनुभूतियों को उस हद तक उपन्यास और कहानियों का विषय बना सकते हैं, जहाँ तक वे सामायिक यथार्थ के अनुकूल हों।

अब्बास— हाँ! और दूसरी बात यह है कि एक लेखक को अपने पात्रों में अपने आपको व्यक्त करते हुए भी उनसे अलग-थलग रहना चाहिये, जैसे एक डाक्टर अपने रोगियों से सहानुभूति रखता हुआ भी उन से अलग रहता है। उसे डाक्टर रहना चाहिये, स्वयं रोगी न बनना चाहिये, जैसे बहुत-से कथाकार अपने साहित्य में व्यक्त यौन सम्बन्धों में अपनी वासना की भूख मिटाने लगते हैं।

कृष्ण— योनि से रचना और रचना से रचयिता याद आया।

.खुदा के बारे में तुम्हारा क्या विचार है ?

अब्बास— .खुदा और शैतान के बारे में मेरी कल्पना उस तरह की नहीं है जिस तरह बहुत-से लोग सोचते हैं । हाँ, मैं .खुदाई और शैतनत, नेकी और बदी, उन्नति और अवनति के सिलसिले में विश्वास रखता हूँ । मेरा मन एक ऐसी नैतिक व्यवस्था को पसन्द करता है, जिसमें इन्सान इन्सान के लिये सच्ची .खुशी लाये ।

कृष्ण— मैं तुमसे इन्सान की उस कल्पना के बारे में पूछ रहा हूँ, जो खुदा को अकेला (एको ब्रह्म द्वितीयो नास्ति) मानती है—यानी एक ऐसी अकेली, सर्वशक्तिमान, सर्व-व्यापक हस्ती जो इस संस्कृति की व्यवस्था और उसके कार्य-कारण के सिलसिले की उत्तरदाई हो सकती है ।

अब्बास— असल में वैज्ञानिक दृष्टिकोण से हमारा ज्ञान इस सारे ब्रह्माण्ड और रसके प्राकृतिक परिवर्तनों के बारे में इतना सीमित है कि अभी ऐसी हस्ती का अन्दाज़ा नहीं किया जा सकता । तुम यों कह सकते हो कि मैं .खुदा को हस्ती से इन्कार नहीं करता, उसमें संदेह ज़रूर करता हूँ । बुद्धिवादी हूँ और इन्सान ने साइंस के क्षेत्र में खोज करके जो पाया है, उसमें विश्वास रखता हूँ ।

कृष्ण— और जब तक बुद्धि और विज्ञान और मानव-श्रम ब्रह्माण्ड और प्रकृति के गहरे अध्ययन के बाद किसी नतीजे पर न पहुँचे, हम कोई फैसला नहीं कर सकते ।

अब्बास— हाँ, यह सही है ।

कृष्ण .खुदा से मार्क्सवाद की ओर आना बड़ा अजीब लगता है, लेकिन इसके सिवा कोई चारा ही नहीं है । इसलिए

आखिरी सवाल पूछता हूँ, मार्क्सवाद के बारे में तुम्हारा क्या ख़्याल है ?

अब्बास— मैं मार्क्सवाद को मूल रूप में ठीक मानता हूँ, लेकिन मैं यह सही नहीं समझता कि मार्क्सवाद में कभी कोई परिवर्तन नहीं आ सकता। आज की परिस्थितियों में, अतीत के प्रकाश में, बुद्धि और मेधा तथा साइंस के प्रयोगों के आधार पर मार्क्सवाद जीवन का उचित दर्शन मालूम होता है। लेकिन यह अन्तिम सच्चाई नहीं है।

कृष्ण— अन्तिम सच्चाई का रूप किसी ने नहीं देखा, क्योंकि सच्चाई भी एक सीढ़ी है जो मानव-विकास के साथ स्तर-स्तर ऊँची होती जाती है। हाँ, हम यह कह सकते हैं कि आज ज्ञान और विज्ञान के प्रकाश में मार्क्सवाद का दर्शन इंसान को बहुत आगे ले जा सकता है, उसके लिये एक उज्ज्वल भविष्य का निर्माण कर सकता है।

अब्बास— कर सकता है। परन्तु यह भी न भूलना चाहिये कि उस उज्ज्वल भविष्य की ओट में कितने ही उससे बेहतर भविष्य छिपे हुए हैं। मैं मार्क्सवाद पर विश्वास रखता हूँ। लेकिन मैं यह भी समझता हूँ कि यह 'मानव-इतिहास' का अगला क़दम है, आख़िरी क़दम नहीं है।

---

*

आधा इंसान

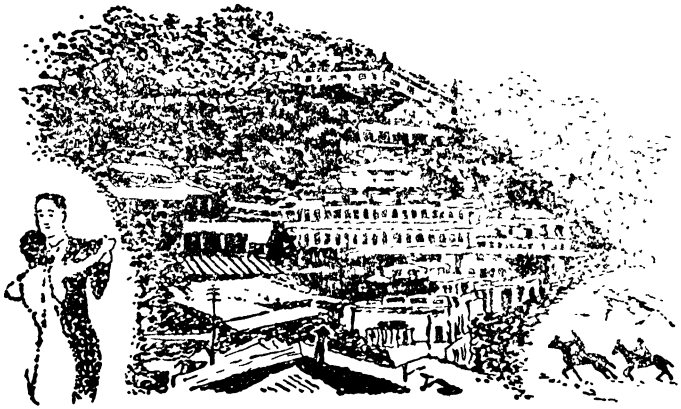

रोज़ काटेज ,
मसूरी ,
११ जून, ५२ ।

ऊषा डार्लिङ्ग,

तुम ज़रूर नाराज़ होगी कि मैंने अब तक तुम्हें पत्र क्यों नहीं लिखा, और शायद यह भी सोचती होगी कि मसूरी जाकर सलमा ने मुझे भुला दिया। यक़ीन मानना (कहती हूँ सच, कि झूठ की आदत नहीं मुझे !) जब से हम यहाँ आए हैं, एक दिन भी ऐसा नहीं बीता कि तुम्हारी याद न आई हो या तुम्हें ख़त लिखने का

इरादा न किया हो। मगर पापा और ममी और भाईजान की इकट्ठी साज़िश से मुझे सुबह से शाम तक इतना व्यस्त रखा जाता है कि एक मिनट का भी अवकाश या एकांत प्राप्त नहीं होता। सुबह नाश्ता नहीं कर पाती कि भाईजान का हुक्म होता है कि घुड़सवारी को चलो। (पहले कुछ दिन तो स्लैक्स में ही सवारी की, मगर अब मैंने बिरजिस सिलवा ली है, और लोग कहते हैं कि राइडिंग-ड्रेस में मैं बुरी नहीं लगती!) हाँ, तो 'केमल्स बैक रोड' का चक्कर लगाकर आते हैं तो ग्यारह बज जाते हैं और रमी का दौर शुरू हो जाता है। पापा तो, तुम जानो, रमी के पुराने शौक़ीन, बल्कि चतुर खिलाड़ी हैं और भाईजान को ख़ुद उन्होंने सिखाया है। मगर मेरे लिए ममी ने भी रमी खेलना शुरू कर दिया है ताकि उनकी लाडली बेटी सलमा का जी न घबराए। हाँ, तो लंच तक रमी का सिलसिला रहता है, और लंच के बाद ममी का हुक्म होता है, आराम करो वरना तुम्हारा स्वास्थ्य बिगड़ जायगा, रंगत फीकी पड़ जाएगी, आँखों में गड्ढे पड़ जाएँगे, इत्यादि, इत्यादि.....सबसे बड़ी मुसीबत यह है कि आजकल ममी मेरे कमरे ही में सोती हैं। (बेटी के लिये पापा का त्याग तो देखो!) शायद उनको अंदेशा यह है कि दो मिनट भी अकेली रही तो कहीं अँगूठी का हीरा न चाट लूँ।

तो, इस तरह चाय का समय हो जाता है, और चाय पीते ही बाहर निकलने की तैयारी शुरू हो जाती है। तुम जानती हो, मसूरी में फ़ैशनेबल लड़कियों की कितनी बहुतायत होती है। अगर रोज़ नई साड़ी या शलवार या ग़रारे का नया सूट न पहनो और मेक-

अप पर आध-पौन घंटा न लगाओ, तो लाइब्रेरी की 'गर्ल-परेड' में शायद कोई 'नोटिस' न ले। इसलिए काफ़ी मेहनत करनी पड़ती है। हाँ, यह बताना तो भूल ही गई कि पापा ने हातिमताई की क़ब्र पर लात मारकर कितने ही नये कपड़े मुझे सिलवा दिए हैं। कोई दस तो नई साड़ियाँ हैं। शिफ़ॉन की एक नीली साड़ी ली है और उसके साथ सुनहरी ब्राकेड का एक बहुत ही चुस्त ब्लाउज़...मेरी जान, देखो तो एक बार तुम भी 'जुम' हो जाओ!

शाम को हम लाइब्रेरी की भीड़ में ज्यादा देर नहीं ठहरते क्योंकि पापा कहते हैं यहाँ अब लो-क्लास के लोग ज्यादा होते हैं। फिर भी लाइब्रेरी को एक सिरे से 'बाईपास' भी नहीं किया जा सकता, क्योंकि इन निचले दर्जे की लड़कियों में कुछ बड़ी ही हसीन सूरतें नज़र आती हैं और उन्हें देखने के लिए हाईक्लास के लड़के इधर ज़रूर चक्कर लगाते हैं। कमबख़्त इस बुरी तरह घूरते हुए गुज़रते हैं कि ऐसा लगता है उनकी एक्स-रे निगाहें कपड़ों को चीरती हुई नंगे बदन को गुदगुदा रही हैं और मुझे महसूस होता है कि हम सब लड़कियाँ नहीं हैं, बल्कि गरदन-कटी, खाल-उतरी हुई बकरियाँ हैं जो क़साई की दूकान पर लटकी हुई हैं और हमारा गोश्त ख़रीदने को ये सब लड़के जमा हैं और कोई कहता है, "जाँघ का गोश्त देना," कोई कहता है, "छाती का!" कभी-कभी तो मेरा जी मतलाने लगता है और तबीयत चाहती है कि अपने सारे कपड़े फाड़ डालूँ, मेक-अप किए हुए मुँह पर कीचड़

मल लूँ, और किसी पहाड़िन के गंदे चीथड़े पहनकर इस सड़क से गुज़रा करूँ, ताकि ये बेशर्म, बेरहम निगाहें गुदगुदाने, छेड़ने, काटने को मेरी तरफ़ न दौड़ें।

हाँ, तो इस तरह लाइब्रेरी से गुजरते हुए हम हेकमैंस के बाल-रूम पहुँच जाते हैं, जहाँ पापा अपने निश्चित चार पेग ह्विस्की के पीते हैं और भाईजान उनकी नज़र बचाकर किसी दूसरी मेज़ पर जाकर अपने दोस्तों के साथ बियर का एक गिलास पी आते हैं और ममी कोई पन्द्रहवीं बार यह ऐलान करती हैं कि 'शेरी' कोई शराब थोड़ा ही है ! मगर मेरे लिए कॉफ़ी ही आर्डर की जाती है।

पिछली बार हम १९४७ के सीज़न में मसूरी आये थे। जब तो मैं मैट्रिक में पढ़ती थी और कान्वेंट स्कूल का नीला फ्राक पहनती थी, और न मेक-अप करने की आज्ञा थी. न हेकमैंस के बालरूम में आने की। इसलिए मुझे तो उस ज़माने की कोई ख़ास याद है नहीं, मगर पापा (जिन्होंने फ़सादों के बाद पहली बार मसूरी आने की हिम्मत की है) कहते हैं, अब मसूरी में वह 'लाइफ़' और 'गेअटी' नहीं रही जो पहले थी। एक तो, तुम जानो, उनके प्यारे अंग्रेज़ अब यहाँ मुश्किल से देखने को मिलते हैं, फिर उनके ताल्लुकेदार मित्रों में से अधिकतर मुसलमान पाकिस्तान चले गए हैं। जो बाकी हैं, उन में से बहुत-से ज़मींदारी-एबोलिशन के बाद मसूरी आना 'एफ़ोर्ड' नहीं कर सकते। कुछ ऐसे भी हैं जो सन् ४७ की घटनाओं से अब तक डरे हुए हैं और इसलिए इधर का रुख़ नहीं करते। मगर पापा को सबसे बड़ी शिकायत यह है कि अब

घटिया दर्जे के लोग मसूरी आने लगे हैं— छोटे-छोटे कस्बों के वकील, डॉक्टर, तहसीलदार, डिप्टी-कलक्टर, वगैरह। भला इन लोगों को पापा कब ख़ातिर में लाने हैं। रहे बिज़नेस-क्लास के सिंधी और पंजाबी। रुपया तो इन लोगों के पास रहता है और ख़र्च भी करते हैं बुरी तरह। शराब तो पीते नहीं, लुढ़काते हैं। मगर पापा कहते हैं, ये सब बदमज़ाक हैं, इनमें कलचर नहीं है। इनकी फ़िल्म-स्टारों की तसवीरों वाली बुश-शर्ट और चीख़ते हुए रंगों की टाइयाँ देखकर तो पापा तिलमिला उठते हैं। उनका बस नहीं चलता कि इन सबको ज़बरदस्ती मसूरी से बाहर कर दें। मुश्किल यह है कि ऐसे ही लोग हेकमैंस में भरे रहते हैं। उनकी लड़कियाँ, बीवियाँ सबसे बढ़िया कपड़े पहनती हैं और सबसे ज़्यादा मेक-अप करती हैं। डांस भी ज़ोरों से करती हैं। दो-चार सिंधी, पंजाबी नौजवानों ने मुझसे भी डांस के लिए कहा, मगर मैंने पापा के डर से इन्कार कर दिया। और फिर मुझे डांस आता भी नहीं था। ममी एक ज़माने में डांस किया करती थीं, अब नहीं करतीं। मैंने पापा से कहा, 'फिर क्या हर्ज है, मैं भी सीख लूँ।' पहले तो उन्होंने इजाज़त नहीं दी। कहने लगे, "उन दिनों की बात और थी, अंग्रेज़ डांस करने का सलीक़ा जानते थे। फिर जो हिन्दुस्तानी होते थे, वे भी हाई-क्लास के होते थे। तुम्हारी ममी ने नवाब रामपुर और राजा साहब नान-पाड़ा और सर जे० पी० के साथ डांस किया है। और ये.....ये लोग तो जंगली हैं जंगली !" मगर कुछ दिन बाद जब डांस के शौक़ीन नौजवानों ने मेरी तरफ़ रुख़ करना भी छोड़ दिया तो

पापा को अपना फैसला बदलना पड़ा और अब इतनी इजाज़त मिल गई है कि भाईजान से डांस करना सीखूँ। इसलिए कभी-कभी अब मैं भी डांस-फ़्लोर पर नज़र आती हूँ। मगर अपने भाई के साथ डांस करने में वह बात और वह 'थ्रिल' कहाँ जो...?

हाँ, तो मेरी जान, इस तरह अपना वक्त कटता है। सिर्फ़ रात को जब ग्यारह-बारह बजे पलंग पर लेटती हूँ और ममी गुड-नाइट कहकर खर्राटे लेना शुरू कर देती हैं, सिर्फ़ उस वक्त मैं अपने विचारों के साथ अकेली होती हूँ। और उस समय और यादों के साथ तुम्हारी याद भी आती है। 'और यादों' का मतलब समझ गई ना? इकोनामिक्स डिपार्टमेंट की तरफ़ से गुज़रो और काली वर्सटेड पतलून और एक भूरा ट्वीड का कोट नज़र आए (उस कोट के कंधे पर तुम्हें शायद मेरे हाथ का रफू किया हुआ हिस्सा दिखाई देगा) तो मेरी तरफ़ से एक नज़रे-शौक़ उधर डाल देना, बस, डैडी और ममी और भाईजान ने मुझे इस सुनहरे पिंजरे में बंद तो कर रखा है, मगर 'मेरे ख्यालों को बेड़ी पिन्हा नहीं सकते!' और इसलिए 'अक्सर शबे-तनहाई में कुछ देर पहले नींद से ....'

अच्छा, मेरी जान, यह पत्र गुसलखाने में बंद होकर लिख रही हूँ और ममी दरवाज़ा धड़धड़ा रही हैं कि जल्दी करो। इसलिए बाकी फिर। लखनऊ के पूरे हाल लिखना। रोशी और शम्मी और नूरू और नैना को बहुत-बहुत प्यार। (कहो, तुम्हारा चाँदबाग़ वाला रोमांस कैसा लड़ रहा है?)

तुम्हारी (मगर सिर्फ़ तुम्हारी नहीं)
सलमा

रोज़ कॉटेज,
मसूरी,
१८, जून, ५२ ।

सलमा की जान,

जीती रहो । तुम्हारा ख़त क्या आया, लखनऊ की यादों का दरवाज़ा खुल गया और मसूरी की 'स्वर्ग-समान सुन्दरता' फीकी पड़ गई । तुम गरमी और लू और पसीने की शिकायत करती हो, और मेरा जी चाहता है कि पर लगाकर वहाँ पहुँच जाऊँ, जहाँ तुम हो, जहाँ वह है . चाहे फिर वहाँ नरक जैसी गरमी ही क्यों न पड़ रही हो!

बनती क्यों हो ? जैसे तुम्हें अहमद के बारे में मेरी जो फ़ीलिंग्स (Feelings) हैं, उनके सम्बन्ध में कुछ मालूम ही नहीं था ! मैं नहीं मान सकती कि तुम, जो उड़ती चिड़िया पहचानती हो, इस 'ओपन सीक्रेट' (Open Secret) से बेख़बर थीं। तुम पूछती हो, "आख़िर तुमने इस अटपटे, गँवार के लठ, लेक्चरर में कौन ऐसा सा सुर्ख़ाब का पर लगा देखा है, जो उसको दिल दे बैठी हो ?" (और जो मैं यही बात तुम्हारे जिगर के टुकड़े निर्मल के बारे में कहूँ, जिसके दूध के दाँत भी अभी नहीं टूटे और जो अभी तक प्रेम को विद्यापति का फ़िल्म और महादेवी वर्मा की कविता ही समझता है !) तो मेरी जान, बात यह है कि हमें तो अहमद की हर आन भाती है। इस गरमी और लू में उसका गर्म कोट पहनना भी भाता है। (इसलिए कि उस कोट पर मैंने रफ़ू किया हुआ है !) और उसके बिना कंघी किए हुए घने काले बाल भाते हैं और उसका इकोनामिक्स पढ़ाने के बहाने सोशलिज़्म पर लेक्चर झाड़ना भाता है। और जिस अन्दाज़ से वह कहता है-'हाँ, तो मिस सलमा शमशाद अली ख़ान, आप भी तो एक ताल्लुक़ेदार ख़ानदान की चश्मो-चिराग़ हैं। आपकी राय ज़मींदारी-एबोलीशन के बारे में क्या है ?' वह भी भाता है। और बताऊँ ? नहीं, क्यों मुँह खुलवाती हो। किसी और के हाथ ख़त पड़ गया, तो लेने के देने पड़ जायँगे।

तुम्हारा ख़याल ग़लत है कि मैं उस किशोरावस्था के मोड़ पर हूँ, जब लड़कियों को अपने हर प्रोफ़ेसर से प्रेम हो जाता है। माफ़ करना, मुझ पर ये दौरे कभी नहीं पड़े। और अहमद तो मुझे उस

समय से आता है, जब वह प्रोफ़ेसर नहीं था, बी० ए० में पढ़ता था और हम लोग आई० डी० में फ़र्स्ट ईयर में थे और एक दिन साहस करके तुम और मैं और रोशी तीनों कॉफ़ी-हाउस गए थे और वहाँ एक शराबी अँग्रेज़ फ़ौजी घुस आया था और हम लड़कियों को Unescorted (बिना पुरुष साथी के) देख कर ऊलजलूल बकने लगा था और हम डर के मारे काँप रही थीं और वह बिलकुल पास आ गया था। लाल-लाल मुँह वाला, बंदर कहीं का! इतना पास कि उसकी साँस से शराब की बू आती थी। और मेरा दुपट्टा सिर से उठाकर कहने लगा था, "ओह, माई डार्लिङ्ग, कम, दिस इज़ दि नाइट फ़ॉर लव !" (Oh, my darling, come, this is the night for love !) और जितने भी लड़के कॉफ़ी-हाउस में थे, उनमें से किसी की हिम्मत न पड़ी थी कि उस कम्बख़्त को टोके। इसलिए कि उसकी पेटी में पिस्तौल लगा हुआ था और हर एक को डर था कि वह पिस्तौल निकाल कर गोली चलाना न शुरू कर दे। और उस वक्त एक दुबला-सा, लम्बा-सा, साँवला-सा लड़का, जो उस समय तक अकेला बैठा हुआ किताब पढ़ रहा था, चुपचाप अपनी जगह से उठा था और मेज़ पर से कॉफ़ी-पॉट उठाकर उसने उस हट्टे-कट्टे अँग्रेज़ के सिर पर दे मारा। याद है, कितनी ख़ौफ़नाक हाथापाई हुई थी उन दोनों में? और जब मिलिटरी पुलिस वाले आकर उसे ले गए थे तो हमने देखा था कि हमारी जान और इज्ज़त बचाने वाले के माथे से खून बह रहा था और वह उस खून को इस तरह पोंछ रहा था जैसे कोई पसीना पोंछता है...

और हमसे कह रहा था, "माफ़ कीजिएगा, आपको तकलीफ़ हुई। अब वह कम्बख़्त आपको तंग करने की कभी हिम्मत न करेगा"... और फिर इतना ज़्यादा ख़ून निकलते देख कर मेरा सिर चकरा गया था और मैं बेहोश हो गई थी। वह दिन मैं अब तक नहीं भूली, और वह भी नहीं भूला—इसलिए कि उसके माथे पर अब भी उस ज़ख़्म का निशान है और जब भी वह शीशा देखता है, उसे उस दिन की—और मेरी—याद दिलाता है।

नहीं ऊषा, मेरी जान, मैं 'स्कूल-गर्लिश इन्फेचुएशन' (किशोरी-प्रेम) में बिलकुल गिरफ़्तार नहीं हूँ। मैंने अहमद को हर ढंग से देखा है। हँसते हुए भी, ग़ुस्सा होते हुए भी; एक बार रोते हुए भी। उसकी ज़बान से मैंने इकोनामिक्स (अर्थशास्त्र) पर लैक्चर भी सुने हैं और उसी ज़बान से ग़ालिब और इक़बाल, फ़िराक़ और मजाज़ की नज़्में और ग़ज़लें भी सुनी हैं। यह सच है कि उसने आज तक मुझसे यह नहीं कहा कि 'मैं तुमसे प्रेम करता हूँ,' मगर इसका मतलब यह नहीं (जैसा तुमने लिखा है) कि 'हो सकता है उसे तुमसे कोई ख़ास दिलचस्पी न हो—या सिर्फ़ इतनी हो जितनी हर नौजवान प्रोफ़ेसर को हर ख़ूबसूरत नौजवान गर्ल-स्टूडेंट (विद्यार्थिनी) से होती है।' अव्वल तो मैं सिरे से ख़ूबसूरत हूँ ही नहीं। हमारी क्लास ही में कितनी ही लड़कियाँ मुझसे कहीं ज़्यादा 'जुम' हैं; मगर वह उनमें से किसी की तरफ़ आँख उठा कर भी नहीं देखता। दूसरे यह कि मैं भी दूध पीती बच्ची नहीं हूँ; अच्छे-बुरे का भेद जानती हूँ। न परदे में पली-बढ़ी हूँ; अहमद

के अलावा और भी दो-चार अच्छे खासे नौजवानों से मिली हूँ। खुद-पसंदी का इलज़ाम न दो तो कहूँ कि अहमद पहला नौजवान नहीं है जिसने मुझमें दिलचस्पी ली है; और अगर बेशर्म न कहो तो यह भी स्वीकार कर डालूँ कि वह भी मेरी ज़िन्दगी का पहला दर्दे-दिल नहीं है। इसलिए अगर मुझे वह अच्छा लगता है और मैं उसके लिए बहुत कुछ निछावर करने को तैयार हूँ तो कोई वजह ज़रूर होगी। समझीं—या नहीं समझीं ?

खैर, अब यह सुनो कि पापा और ममी और भाईजान तीनों की इकट्ठी राय यह है कि मसूरी के सीज़न की दिलचस्पियों में मैं अहमद को बिलकुल भुला बैठी हूँ। इसलिए ममी ने मेरे कमरे से अपना डेरा उठा लिया है और इसलिए अब मुझे अपने दोस्तों को खत लिखने की आज़ादी है। कल रात पहला खत उसे लिखा है, (और छुट्टियों में मसूरी आने की सलाह दी है।) और दूसरा खत यह तुम्हें लिख रही हूँ। इस वक्त शाम के चार बजे हैं और आम तौर से हम लोग सादे चार बजे चाय पीते हैं। इसलिए तुम्हें और बहुत कुछ लिखने का इरादा था, मगर ममी अपने कमरे से चिल्ला-चिल्ला कर ऐलान कर रही हैं कि हमें अपने पड़ोसी मिस्टर माथुर के यहाँ चाय पीने जाना है। (कोई पी० सी० एस० क़िस्म के 'बोर' हैं जो बराबर वाले बंगले में आकर ठहरे हैं, और उनके यहाँ जाने के खयाल से ही मुझे डर लग रहा है। लेकिन पापा और ममी इन सोशल मुलाक़ातों में बहुत ही फ़ार्मल हैं और अगर मैं इन्कार कर दूँ तो ऐसी डाँट पड़ेगी कि बस !) इसलिए अब इतना

ही काफ़ी है। बाक़ी फिर—

तुम्हारी—

सलमा

पी० एस : तुम कितनी ख़ुशक़िस्मत हो कि लखनऊ में हो और रोज़ यूनीवर्सिटी में पढ़ने जाती हो, और 'किसी' को देख सकती हो!

पी० पी० एस : क्या तुमने रामकुमार का नया फ़िल्म 'ख़्वाब' देखा? न देखा हो तो ज़रूर देखना। यह लड़का तो दिलीप और राज से भी 'जुम' निकला! मसूरी में तो हर लड़की उसकी दीवानी हो रही है।

मसूरी ,
२६, जून, ५२ ।

ऊषा, माई डियर, बहुत-बहुत प्यार ।

'इक तीर मेरे सीने पे मारा कि हाय-हाय !'...गोमती, चाँदनी रात में 'छतर मंज़िल' का सुनहरी नज़्ज़ारा ! बोट-क्लब का रुपहली दृश्य और उसमें 'वह' भी मौजूद । तुमने इतने सुन्दर ढंग से नक्शा खींचा है कि वाह-वाह ! मैं जल ही तो गई ! "ज़िक्र उस परीवश का, और फिर बयाँ तेरा..." क्या वह सचमुच मेरी बाबत पूछ रहा था ? या यह सब तुमने मुझे छेड़ने के लिए मनगढ़न्त लिखा है ? भई, इस

नाज़ुक मामले में तुमने मज़ाक किया तो मुझसे बुरा कोई न होगा। तुमसे यह बात इसलिए कुरेद कर पूछ रही हूँ कि मेरे पास जो ख़त आया है, वह तो इतना रूखा, फीका और फ़ार्मल है कि दूर-दूर भी रोमांस का नाम-निशान नहीं।....."आशा है, अब आपकी तबीयत बेहतर होगी और आपने कालेज में जो लैक्चर मिस किए हैं, उनके बदले में आप खुद घर पर पढ़ रही होंगी। कम्यूनिज़्म की आर्थिक बारीकी समझनी हो, तो वेब्स (Webbs) की किताब पढ़ना ज़रूरी है। वैसे विरोधियों के दृष्टिकोण को समझने के लिए बर्नहम की Managerial Revolution वग़ैरह किताबें भी पढ़ लीजिए, ताकि मालूम हो जाये कि ऐण्टी-सोशलिस्ट (समाजवाद-विरोधी) दल की दलीलें कितनी लचर हैं..." वग़ैरह, वग़ैरह! अब तुम्हीं बताओ, मैंने ख्वाह-म-ख़्वाह इतनी अहतियात बरती कि ख़त घर के पते के बदले मिसेज़ माथुर के पते पर मँगाया। (हाँ, तुम भी आइन्दा सब ख़त मार्फ़त मिसेज़ रूपकुमारी माथुर, पर्वत लाज, मसूरी, के पते से मुझे भेजना।)

अब इन माथुर्स के बारे में सुनो। (शायद पिछले ख़त में मैंने उनका कुछ ज़िक्र किया था।) यह फ़ैमिली दो-तीन हफ़्तों से हमारे बराबर वाले बँगले में आकर ठहरी है। मनोवैज्ञानिक निरीक्षण के लिहाज़ से निहायत दिलचस्प लोग हैं। हर एक साईकालोजी की किताब का एक अध्याय मालूम होता है। मिस्टर माथुर पी० सी० एस० के पुराने आदमी हैं। बीस बरस से सर्विस में हैं और अब किसी ज़िले में कलक्टर हैं। उम्र कोई पैंतालीस वर्ष की होगी। फिर

के बाल बिलकुल ग़ायब हैं। उनके बेतकल्लुफ़ दोस्त अक्सर उनपर अंडे की फबती कसते रहते हैं। रंग साँवला और उस पर चेचक के दाग़। कमज़ोर आँखों पर बड़े मोटे शीशों का चश्मा पहनते हैं, पान बहुत खाते हैं—ख़ुशबूदार तम्बाकू डालकर—शायद इसलिए कि दाँतों में पायरिया है और जब पान न खा रहे हों तो दूर से बदबू का भबका आता है। हीन-भाव की मिसाल देखनी हो, तो माथुर साहब को देख लो। बेचारे शक्ल से हीन ही नहीं, अनाथ और ग़रीब भी नज़र आते हैं। पी० सी० एस० के हैं इसलिए आई० सी० एस० वालों से छोटे महसूस करते हैं। गंजे हैं, इसलिए बाल-वालों से अपने आपको घटिया समझते हैं। बेचारे छोटे क़द के ही नहीं, एक दरम्याना तोंद के मालिक भी हैं, इसलिए लम्बे और तगड़े, सेहतमन्द और स्मार्ट नौजवानों का सामना करते हुए कतराते हैं। पिता किसी वकील के मुन्शी थे और बेटे को सरकारी वज़ीफ़ों की मदद से पढ़ाया था, इसलिए ख़ानदानी रईसों, ताल्लुक़ेदारों और लखपति सिंधी व्यापारियों के मुक़ाबिले में माथुर साहब अपने आपको हीन समझते हैं। मगर शायद इस हीन-भाव का सबसे बड़ा ज्ञान उन्हें अपनी नौजवान पत्नी के सामने होता है।

मिसेज़ माथुर एक काफ़ी सुन्दर और शानदार महिला हैं गो उनकी सुन्दरता शाहाना और रोबदार क़िस्म की है - नसीम और वीणा जैसी! उम्र कोई अट्ठाईस-तीस बरस की होगी, मगर इनको अपने से छोटी उम्र की लड़कियों की बराबरी करने में मज़ा आता है। मुझसे बेचारी बड़ी मुहब्बत से पेश आती हैं, मगर उनका अनुरोध

है कि "मुझे मिसेज़ माथुर नहीं, रूप कहा करो। आख़िर मैं तुमसे कोई ज़्यादा बड़ी थोड़ा ही हूँ।" और हाँ, रूमानी अनुभावों के क़िस्से सुनने की बराबर फ़रमाइश करती रहती हैं। ऐसा लगता है जैसे अपनी ज़िन्दगी में रोमांस 'मिस' करने की वजह से दूसरों के रूमानों में उन्हें असाधारण और अस्वाभाविक हद तक दिलचस्पी हो गई हो। सुना है, किसी ज़माने में वे रूप कुमारी के नाम से हिन्दी में बड़ी अच्छी प्रेम-कहानियाँ लिखा करती थीं। तुमने शायद कभी 'माया' या 'सरिता' में इनकी कहानियाँ पढ़ी हों। कहते हैं, उन दिनों एक नौजवान साहित्यिक से इनका काफ़ी गहरा प्रेम भी चल रहा था (—साहित्यिक प्रेम—कन्हैयालाल मुन्शी और लीलावती मुन्शी या इम्तियाज़ अली ताज और हिजाब इस्माइल के प्रेम जैसा!) मगर इनके माँ-बाप का इरादा था कि दामाद आई० सी० एस० न हो, तो कम-से-कम पी० सी० एस० ज़रूर हो। वह बेचारा इस पर भी राज़ी हो गया कि साहित्य-सृजन छोड़कर पी० सी० एस० की परीक्षा दे— मगर मुक़ाबिले में सिर्फ़ एक नम्बर से रह गया और रूप के माँ-बाप ने बेटी को ज़बर्दस्ती मिस्टर माथुर के साथ ब्याह दिया। ऊषा प्यारी, हमने तुमने भी बहुत से इम्तहान दिए हैं और इम्तहानों के सारे सिस्टम को ही 'कंडम' करते रहे हैं, मगर कभी यह भी सोचा है कि एक नंबर—सुना तुमने—सिर्फ़ एक नंबर की कमी से पूरी की पूरी ज़िन्दगियाँ तबाह हो सकती हैं?—हाँ, तो जब वह बेचारा एक नंबर से आई० सी० एस० में जाने से रह गया, तो रूप के पिताजी ने ज़बर्दस्ती उसकी शादी माथुर साहब से

कर दी। (यह और बात है कि अब उस शादी को हुए छः बरस गुज़र चुके हैं, माथुर साहब सिर्फ़ नौ सौ रुपए माहवार पाते हैं और वह नौजवान साहित्यिक जो आई० सी० एस० में केवल एक नंबर से रह गया था, इस वक्त वाशिंगटन एम्बेसी में प्रेस एटेची लगा हुआ है और अट्ठारह सौ रुपये माहवार पा रहा है!)

कम उम्र पत्नी और बूढ़ा या अधेड़ पति—यह तो काफ़ी पुरानी और जानी-पहचानी कहानी है। मगर माथुर साहब पहले ब्याहे भी थे और उनकी पहली पत्नी से बच्ची भी थी। सुना है कि उनकी पहली पत्नी साधारण शक्ल-सूरत की ही नहीं, अनपढ़ भी है। एक सरकारी अफ़सर की पत्नी की हैसियत से बेचारी बिलकुल असफल साबित हुई। रावी (यानी मसूरी के प्रोफ़ेशनल स्कैंडल-माँगर) बयान करते हैं कि कमिश्नर साहब के डिनर में एक दिन ग़रीब बौखलाहट में फिङ्गर-बोल से हाथ धोने के बदले, उसका पानी पी गई थी। बस, उसी दिन माथुर साहब ने उसे वापस मैके भेज दिया !(और उस वक्त से आज तक उसको बाक़ायदा सौ रुपये माहवार भेजते हैं।) और अपनी बेटी को नैनीताल के एक कान्वेंट स्कूल में दाख़िल करा दिया। और इसके बाद बरसों किसी ख़ूबसूरत और पढ़ी-लिखी बीवी की तलाश करते रहे, जो उनकी सोशल-लाइफ़ में उनका हाथ बटा सके और फ़िङ्गर-बोल से पानी न पीती हो। और आख़िर उनकी चुनाव-दृष्टि रूप कुमारी पर पड़ी। नतीजा क्या हुआ, वह मैं पहले ही बता चुकी हूँ।

अब सूरत यह है कि माथुर साहब तो रूप कुमारी पर जान देते

हैं, अपनी मुसमुसी आँखों से पत्नी की तरफ़ इस तरह देखते हैं जैसे मन ही मन में उसकी पूजा कर रहे हों। उसका छोटे-से-छोटा हुक्म बजा लाने में देर नहीं करते। मैंने ख़ुद रूप को इतमीनान से पान चबाते और माथुर साहब को बार-बार उगालदान पेश करते देखा है। कपड़े वालों, दर्ज़ियों, जौहरी वग़ैरह के बिल चूँ तक किए बिना अदा करते रहते हैं। रूप कुमारी के पास कम-से-कम डेढ़ सौ साड़ियाँ तो ज़रूर होंगी—और न जाने कितने ग़रारे और कमीज़ें। हर रंग की साड़ियों के लिए अलग-अलग कोट। जूतों और सैंडलों की क़तार तो कमरे के चारों तरफ़ लगी हुई है। हर महीने पत्नी के लिए दर्जनों मासिक, साप्ताहिक-पत्र और किताबें मँगवाते हैं, मगर रूप कुमारी कहती हैं, अब उनकी साहित्यिक रुचि मुरझा गई है और वह केवल फ़िल्मी पत्रों, ख़ासकर फ़िल्मिं इंडिया को ध्यान से पढ़ती हैं। हर फ़िल्म-स्टार का वंश-वृत्त उन्हें ज़बानी याद है। कौन कब पैदा हुआ, कब फ़िल्मी दुनिया में आया, किस-किस कम्पनी के किस-किस चित्र में आया, कौन-सा हीरो किस हीरोइन के प्रेम पाश में बँधा है, ऐसी सब बातें उन्हें पूरी तरह मालूम हैं। परसों ही हम लोग रामकुमार की नई फ़िल्म "ख़्वाब" देखकर लौट रहे थे तो कहने लगीं, "जानती हो, यह रामकुमार अपने लखनऊ ही का रहने वाला है। ला-मार्टिस ही से तो सीनियर केम्ब्रिज किया था। वह एम ०ए० में पढ़ता था कि रायल फ़िल्म कम्पनी का रुस्तम ईरानी लखनऊ किसी फ़िल्म की शूटिंग करने आया और रामकुमार को कांट्रेक्ट करके साथ लेता गया।

पहली ही फ़िल्म में रामकुमार बिमला रानी के साथ हीरो के रोल में आया। बिमला रानी उस पर आशिक़ हो गई और इसके बाद तो हर प्रोड्यूसर जो बिमला रानी को लेना चाहता, उसको साथ में रामकुमार से भी कांट्रेक्ट करना पड़ता".. वग़ैरह-वग़ैरह... लो, मैं भी कहाँ से कहाँ भटक आई। कहना यह चाहती थी कि माथुर साहब रूप की इतनी ख़ातिर करते हैं, मगर वह उस बेचारे को बिलकुल मुँह नहीं लगाती...और सुनो, हर रात को डिनर के कोई घंटा भर बाद उन्हें न्यूरालिजया (यानी आधे सिर के दर्द) का दौरा पड़ता है। इस्प्रीन की दर्जनों गोलियाँ भी बेअसर साबित होती हैं। पति बेचारा अगर सिर दबाने की कोशिश करता है तो उस पर डाँट पड़ती है। बेचारा कमरे-कमरे परेशान घूमता रहता है... बिलकुल उसी तरह जिस तरह रूप की पालतू काली बिल्ली जूलियट अपनी मालकिन के लिए मारी-मारी फिरती है। फ़र्क़ सिर्फ़ यह है कि ग्यारह-बारह बजे जब रूप सोने की दवा पीकर लिहाफ़ में सिर छुपाती हैं तो जूलियट उनके पैरों में दुबककर सो जाती है और माथुर साहब बेचारे दूसरे कमरे में ख़ुद भी एक स्लीपिंग डोज़ पीकर सोते हैं!

तो यह बेचारी रूप और बेचारे माथुर साहब की हालत है। मुझे तो दोनों पर बहुत ही तरस आता है। मगर उनसे भी ज़्यादा अजीब और रहम के काबिल हालत शम्मो की है। शम्मो माथुर साहब की बेटी है पहली पत्नी से। पूरा नाम श्यामा कुमारी है, मगर घर में सब कोई शम्मो-शम्मो कहते हैं। कोई अठारह साल की

होगी। पिछले साल नैनीताल के एक कान्वेंट स्कूल से सीनियर केम्ब्रिज किया है। अब आई० डी० कालेज में फ़र्स्ट ईयर में पढ़ती है...मगर अब मुझे ख़त ख़त्म करना चाहिये। ममो डाइनिंग रूम से चिल्ला रही हैं कि चलो, खाने का वक्त हो गया। इसलिए शम्मो के बारे में अगले ख़त में लिखूँगी। तुम तो अपने आपको साइकालोजी और साइकोएनालिसिस की तोप समझती हो, मगर इस माथुर परिवार जैसे नमूने तुम को अपनी किताबों में भी न मिले होंगे।

अच्छा, ख़ुद को बहुत-बहुत प्यार देना और मौक़ा मिले तो 'किसी' को मेरी तरफ़ से बस एक नज़र देख लेना। मगर एक नज़र से ज्यादा नहीं! ऐसा न हो कि 'हो गई रक़ीब आख़िर थी जो राज़दाँ अपनी' वाला मज़मून हो जाए।

तुम्हारी—
सलमा

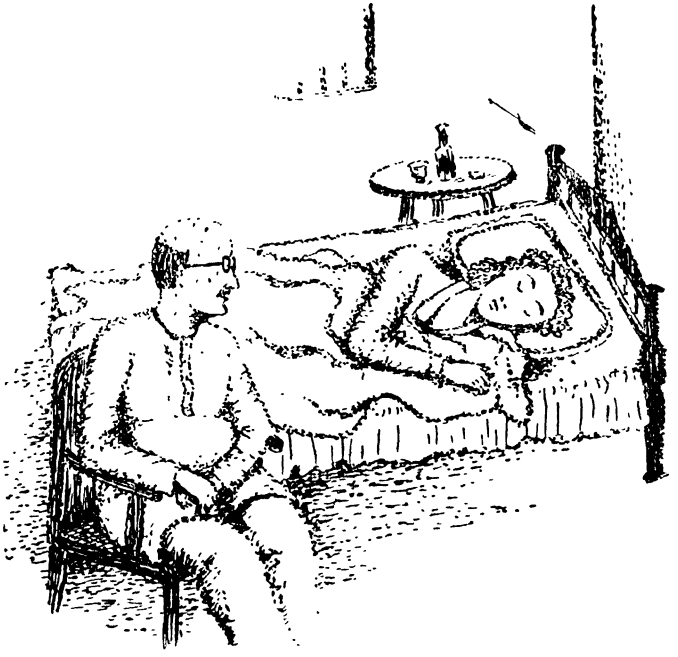

मसूरी,
२७, जून, १९५२।

ऊषा प्यारी,

कल ही तुम्हें एक काफ़ी लम्बा ख़त लिख चुकी हूँ जो शायद आज ही की डाक से निकलेगा और इस ख़त के साथ ही तुम्हें मिलेगा।

यह छोटा-सा ख़त जल्दी में सिर्फ एक ग़र्ज़ से लिख रही हूँ कि यूनीवर्सिटी के रजिस्ट्रार के दफ़्तर से यह पूछ कर लिखो कि कोई लड़की प्राइवेट कैंडीडेट की हैसियत से इंटर की परीक्षा दे

सकती है या नहीं ? यह बात शम्मो मालूम करना चाहती है (शम्मो, यानी माथुर साहब की बेटी श्यामा कुमारी, जिसकी सेहत अच्छी नहीं है, इसलिए उसके पिताजी उसकी पढ़ाई छुड़ाना चाहते हैं। मगर वह चाहती है कि जब तक सेहत बेहतर हो, घर पर पढ़कर परीक्षा दे सके।)।

दूसरी बात यह कि डॉक्टर साहब (यानी अपने पापा) से पूछना कि अगर किसी लड़की को हर तीसरे-चौथे दिन पेट में सख्त दर्द होता हो, (कभी बाँई तरफ़ और कभी दाईं तरफ़) और एक्सरे में एपेंडिक्स न निकले और न स्टूल-एग्ज़ामिनेशन में केंचुओं या कीड़ों का होना साबित हो और न पुरानी पेचिश हो—तो यह क्या बीमारी हो सकती है ? दर्जनों डॉक्टर शम्मो बेचारी की जाँच और इलाज कर चुके हैं, मगर अब तक कोई सही कारण नहीं बता सका।

इस ख़त का जवाब वापसी डाक से देना।

बहुत ही जल्दी में

तुम्हारी—

सलमा

पी० एस : 'वे' दिखाई दें तो मेरा ज़िक्र बिलकुल न करना। वे समझते क्या हैं अपने आपको ? दस दिन हो गये मुझे ख़त लिखे, और अब तक जवाब में एक सतर भी नहीं आई।

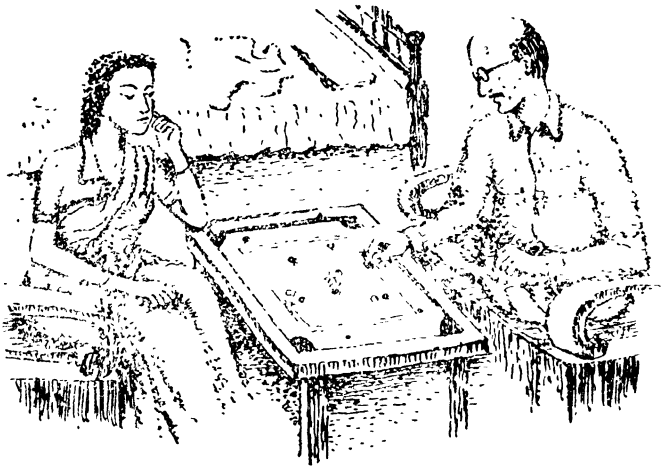

मसूरी,
३, जुलाई।

उषा डार्लिङ्ग,

तुम्हारे पापा का कहना सचमुच सही निकला। शम्मो का पेट का दर्द सचमुच हिस्टीरिया की एक नई शक्ल निकला। ऐसा लगता है कि उसका 'सब-कांशस' (यानी उपचेतन) अपने पिताजी का ध्यान सौतेली माँ की तरफ़ से हटाकर अपनी तरफ़ खींचने के लिए यह उपाय काम में लाता है।

तुम कहोगी, मुझे यह कैसे मालूम हुआ ? सुनो, पिछले इतवार

का ज़िक्र है कि रूप तो दिन गुज़ारने अपनी सहेली बेगम नक्शबन्दी के यहाँ गई हुई थी। (दोनों एक ही दरज़ी से कपड़े सिलवाती हैं और हर महीने नए कपड़े डिज़ाइन करने के लिए बाक़ायदा कान्फ्रेंस करती हैं!) माथुर साहब दिन भर शम्मो के पास बैठे कैरम खेलते रहे। दोपहर के खाने के बाद मैं रूप से उस हफ्ते का 'दि स्क्रीन' माँगने गई। (उसमें खबर छपी है कि रामकुमार बेचारे को प्लुरिसी हो गई है—कई हफ्ते से बीमार है और उसकी जितनी फ़िल्में बन रही थीं, सबकी सब लटक गई हैं!) तो देखा, शम्मो की हालत बहुत बेहतर है। सुबह से दर्द का दौरा बिलकुल नहीं हुआ। शाम को बाहर जाते हुए समी ने कहा, "चलो, माथुर साहब के यहाँ होते चलें।" वहाँ गए तो माथुर साहब और शम्मो बैठे चाय पी रहे थे और शम्मो बिलकुल खुश नज़र आती थी। माथुर साहब कहने लगे, "आओ भाई, तुम लोग भी एक-एक प्याली चाय पियो, फिर हम भी टहलने चलेंगे।" इतने में रूप आ गई और आते ही माथुर साहब से कहने लगीं, "चलो सिनेमा चलें। आज रामकुमार की फ़िल्म 'कलंक' का आखिरी दिन है।" माथुर साहब ने आज्ञाकारी लहजे में कहा, "हाँ, हाँ, ज़रूर, ज़रूर। मैं अभी सीटों के लिए फ़ोन करता हूँ। आज शम्मो की तबियत भी अच्छी है, इसे भी ले चलते हैं।" मगर रूप ने डाँटकर कहा, "नहीं, डाक्टर ने इसे चलने-फिरने से मना किया है। वह सिनेमा नहीं जाएगी। चलो, जल्दी करो—अपना ओवरकोट उठाओ।"

माथुर साहब उस वक्त ऐसे लग रहे थे जैसे मास्टर के सामने

स्कूल का बच्चा। चुपके से उठ खड़े हुए और हैट-स्टैंड से अपना हैट और कोट उतार ही रहे थे कि शम्मो के कमरे से इतनी भयानक चीख़ों की आवाज़ आई कि हम सब ऊपर दौड़े। जाकर देखा कि दर्द के मारे बेचारी बिस्तर पर लोट रही है और "हाय, मैं मर जाऊँगी! हाय, मैं मर जाऊँगी, पिताजी!" चिल्ला रही है। मैंने छूकर देखा, हाथ-पाँव एकदम ठंडे बर्फ़, मगर माथे पर पसीना फूटा हुआ था। आँखों की पुतलियाँ ऊपर को चढ़ी हुईं और दोनों हाथों से पेट को ज़ोर से दबाए हुए। "सलमा बीबी", माथुर साहब चिल्लाए, "ज़रा डॉक्टर शर्मा को फ़ोन तो करो।" और फिर डरे-डरे-से अंदाज़ से पत्नी की तरफ़ देखकर धीरे से बोले "अब सिनेमा तो...."

अभी वह इतना ही कह पाए थे कि रूप ने उनकी बात काट-कर पैर पटख़ते हुए कहा, "वह तो मैं पहले ही जानती थी। तो आप रहिए अपनी बेटी के पास। मैं जा रही हूँ। क्यों, सलमा, चलती हो?"

रामकुमार का फ़िल्म देखने का शौक तो मुझे भी बहुत था, मगर शम्मो के ख्याल से मैंने कहा, "नी, मैं फिर कभी देख लूँगी। आज तो शम्मो की तबीयत अच्छी नहीं है....." मगर ममी ने कहा—"कोई बात नहीं, मैं यहाँ ठहर जाती हूँ। तुम पिक्चर देख आओ रूप के साथ।"

सो मैं और रूप "कलंक" देखने गयीं। रामकुमार के पिछले चित्र 'ख्वाब' के बारे में तो मैं पहले ही लिख चुकी हूँ, मगर

'कलंक' में तो उसने कमाल ही कर दिया है। एक शराबी कवि के काम को ऐसी खूबी से निभाया है कि तारीफ़ नहीं हो सकती। तुम तो जानती हो कि मुझे आम तौर पर हिन्दुस्तानी पिक्चर्स नहीं भातीं, (उनमें वह हालीवुड की शान-शौक़त और ग्लैमर भला कहाँ?) मगर रामकुमार की हर फ़िल्म में और कुछ हो या न हो, उसका अपना काम इतना अच्छा होता है कि मेरी जैसी 'सुपर-क्रिटिक' (Super Critic) भी तारीफ़ करने पर मजबूर हो जाती है। "कलंक" में कमज़ोरी है तो सिर्फ़ यह कि वह भैंगी आँखों वाली नीलिमा उसमें हीरोइन का काम करती है। एक सीन में भी तो रामकुमार के सामने आने के क़ाबिल नहीं साबित होती। न जाने इतना बड़ा और मशहूर और क़ाबिल एक्टर कैसे नीलिमा जैसी थर्ड-रेट एक्ट्रेस के साथ काम करने के लिए राज़ी हो जाता है। फ़िल्म के दौरान में रूप कहने लगी, "क्यों सलमा, अगर किसी लड़की को रामकुमार जैसा ख़ूबसूरत और अच्छा पति मिल जाए, तो कैसा हो? क्या वह ख़ुशी से मर न जाए?" मैंने कहा कि इस वक्त तो ख़ुद रामकुमार की जान की ख़ैर मनानी चाहिए। बेचारा प्लुरिसी जैसी ख़तरनाक बीमारी का शिकार हुआ है। इस पर रूप ने चुपके से मेरे कान में कहा, "मैंने तो आज ही मन्नत मानी है कि राम अच्छा हो गया तो एक दिन उपवास रक्खूंगी और दस रुपए दान दूँगी।" मैंने दिल ही दिल में सोचा, लो भई, यह तो पूरी तरह 'फ़ैन-क्रेज़' (Fan Craze) में डूबी हुई है!

मैं भी कितनी अजीब हूँ। चली शम्मो की बीमारी का हाल

लिखने और कहाँ से कहाँ पहुँच गई। हाँ तो उस रात को जब हम सिनेमा से वापस आए तो देखा कि शम्मो, जिसे हम दर्द से कराहता और बिलबिलाता छोड़ गए थे, पलंग पर बैठी माथुर साहब और ममी के साथ रमी खेल रही है। बाद में ममी ने बताया कि रूप के सिनेमा चले जाने के बाद कुछ मिनट तक तो शम्मो दर्द की शिकायत करती रही, मगर इसके बाद आहिस्ता-आहिस्ता दर्द ग़ायब होता गया—यहाँ तक कि जब डॉक्टर शर्मा दो-तीन मिनट का मुआयना करने और अपने फ़ीस के सोलह रुपये लेने आए, तो शम्मो का दर्द बिलकुल जाता रहा था।

जभी तो मैंने कहा कि तुम्हारे पापा का ख़याल सोलह आने ठीक निकला। उनको यह सब सुना देना।

यहाँ बारिशों के बाद मौसम में काफ़ी ठंड आ चुकी है। इस सीज़न में यहाँ बड़ी रौनक़ है। बम्बई से बड़े स्मार्ट लड़कों की एक टोली की टोली आई हुई है, जिनसे स्केटिंग रिंक (Skating Rink) में अक्सर मुलाक़ात क्या, सचमुच मुठभेड़ होती है। हाँ, मैं यह बताना तो भूल ही गई कि तीन-चार बार धड़ाम से गिरने के बाद में रोलर स्केटिंग की माहिर हो गई हूँ। स्केटिंग है मज़ेदार। डांसिंग का भी मज़ा आता है और कसरत की कसरत हो जाती है। तुम भी इस साल यहाँ आ जातीं तो बड़ा मज़ा आता। अकेली तो मैं किसी से बात करते भी डरती हूँ। मगर तुम न जाने क्यों उस ग़ज़ब की गरमी में लखनऊ चिपकी हुई हो? और वह जनाब! उनका तो कहना ही क्या है। एक निहायत रूखे

और अरसिक क़िस्म के ख़त में लिखते हैं--"तुम्हें मसूरी की बुर्जुआ ठंडक मुबारक हो! हम तो लखनऊ की प्रोलतारी गरमी ही में ख़ुश हैं।" यह मेरे तीन ख़तों का जवाब मिला है जिनमें मैंने मसूरी आने के लिए लिखा था! आए बड़े प्रोलतारी बन के! जल ही तो गई मैं यह पढ़कर!

बाक़ी फिर! और कुछ लिखा तो ख़त के बजाए पूरा उपन्यास न बन जाए और ख्वाह-म-ख्वाह तुम्हें पन्द्रह फ़ी सदी रायल्टी देनी पड़े।

तुम्हारी—

सलमा

पी० एस० : तुम्हारा दिमाग़ तो ख़राब नहीं हो गया कि अच्छी ख़ासी फ़िलासफ़ी और साइकालोजी छोड़कर (जो तुम्हारे मनपसंद थे) तुम अब इकोनामिक्स में एम० ए० करना चाहती हो। जब 'वह' तुम्हें भी मार्क्सवाद पर लैक्चर दे-देकर 'बोर' करेगा, तब तुम्हें अपनी बेवक़ूफ़ी का अहसास होगा। ख़ैर, तुम्हारी मरज़ी। 'हम नेक बंदे हुज़ूर को समझाए देते हैं!'

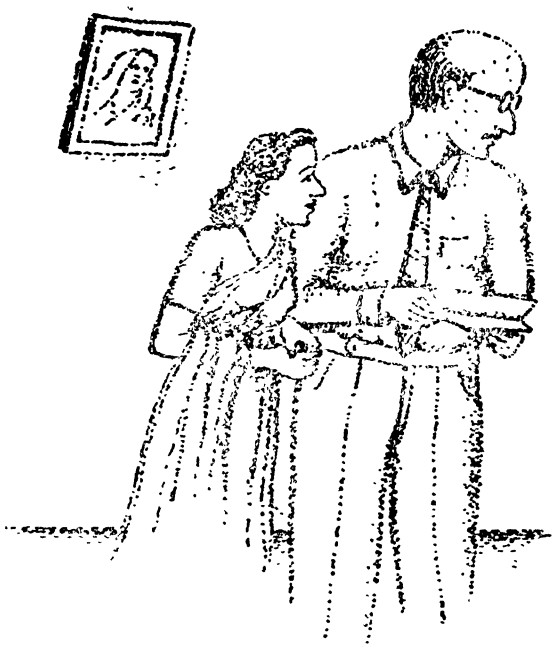

मसूरी ,
११, जुलाई, ५२ ।

ऊषा !

यह स्पेशल ब्राडकास्ट मसूरी से किया जा रहा है। एक अहम खबर, बल्कि अति उत्तम समाचार सुनो : —

रूप का न्यूरालिजया एकदम जाता रहा है।

शम्मो का पेट का दर्द भी ग़ायब हो गया है।

रूप और मिसेज़ नक्शबंदी ने आधी-आधी दर्जन नए डिज़ाइन के चोली-ब्लाउज़ सिलने के लिए दिए हैं।

मैं भी मसूरी की 'बोरडम' (उकताहट) में अब किसी क़दर दिलचस्पी पैदा होने की उम्मीद कर रही हूँ।

यह काया-पलट क्यों भला ? इसलिए कि रामकुमार आने वाला है। रामकुमार, फ़िल्मी-दुनिया का सबसे लोकप्रिय हीरो, मसूरी आ रहा है—जलवायु बदलने के लिए ! और जानती हो, कहाँ ठहरेगा ? नहीं, सेवाय होटल में नहीं, न हैकमैन्स में। होटल में तो उसके मतवाले (और मतवालियाँ !) उसकी तिक्काबोटी कर डालेंगे। इसलिए वह माथुर साहब के यहाँ ठहरेगा। यह कैसे ? यह भी एक दिलचस्प कहानी है। माथुर साहब के चचेरे भाई एक और माथुर बम्बई में सेंट्रल गवर्नमेंट के सप्लाई के दफ्तर में कंट्रोलर या डायरेक्टर या कोई चीज़ हैं। वह जिस बिल्डिंग में रहते हैं, उसी में रामकुमार भी रहता है। इसलिए उनकी काफ़ी मुलाक़ात, बल्कि दोस्ती है। जब रामकुमार को डाक्टरों ने हवा-बदली के लिए कुछ दिन मसूरी जाने को कहा, तो उन बम्बई वाले माथुर ने अपने कज़िन, यानी हमारे वाले माथुर साहब को लिखा। वह तो बेचारे पहले काफ़ी नर्वस हुए। बोले, "अरे भई, ये फ़िल्मवाले काफ़ी बददिमाग़ होते हैं। लाखों रुपए कमाते हैं ना ! न जाने यह मिस्टर रामकुमार किस क़िस्म के आदमी हैं। हमारे घरेलू वातावरण में फ़िट-इन (Fit in) हों या न हों।" मगर रूप ने डाँट कर कहा, "आने भी दो ना बेचारे को ! बीमारी से हाल ही में उठा है। होटल में ठहरेगा तो एक मिनट चैन नहीं मिलेगा। यहाँ हम सब मिलकर अच्छी तरह से उसकी देखभाल

कर सकते हैं।" और माथुर साहब ने फ़ौरन बात बदलकर कहा, "हाँ हाँ, मैं ख़ुद यही कहता हूँ कि ज़रूर बुलाना चाहिए। और फिर रामकुमार तो अपने यू० पी० ही का रहने वाला है और स्क्रीन पर देखने से काफ़ी शरीफ़ नज़र आता है।"

सो रामकुमार अगले हफ़्ते आ रहा है और मसूरी के दिल की धड़कन तेज़ हो रही है...और मुझे रूप के यहाँ एक इंपार्टेण्ट कांफ्रेन्स के लिए जाना है जो इंटीरियर डेकोरेशन (Interior Decoration) के सिलसिले में हो रही है...इसलिए बाक़ी फिर—रामकुमार के आने पर!

तुम्हारी—

सलमा

पी० एस० : तुम्हारे इकनामिक्स के 'प्रोफ़ेसर साहब' मिलें और मेरे बारे में पूछें, तो कहना. मैं काफ़ी मसरूफ़ रही, इसलिए उनके ख़त का जवाब न दे सकी। अगले हफ़्ते फ़ुरसत मिली तो ख़त लिखूँगी।

मसूरी ,
२३, जुलाई, ५२।

ऊषा प्यारी,

माफ़ करना, इतने दिन से तुम्हारे ख़त का जवाब न दे सकी। क्या करूँ, पिछले दस दिन से इतना एक्साइटमेंट रहा है कि तोबा ही भली। रामकुमार क्या आया है, सारे मसूरी और ख़ासकर हमारे पड़ोस में एक हलचल मच गई है। आज माथुर साहब के यहाँ डिनर तो कल मिसेज़ नक्शबंदी के यहाँ लंच और परसों हमारे यहाँ चाय। रोज़ पिकनिक; कभी केम्प्टी-फ़ाल तो कभी

भट्टा-फ़ाल; कभी चंडाल चोटी, तो कभी तोप टिब्बा। मतलब यह कि एक गड़बड़ मची हुई है।

तुमने रामकुमार के बारे में पूछा है कि सचमुच ज़िन्दगी में कैसा लगता है? तो ईमान की बात यह है कि पहले-पहले उसे देखकर मुझे काफ़ी डिसेपाइंटमेंट (निराशा) हुई। खासा साँवला रंग (फ़िल्मों में तो मेक-अप होता है न!) सिर पर बाल ग़ायब होना शुरू हो गए हैं। (फ़िल्मों में नक़ली बालों की 'विग' पहनता है!) और आँखों पर मोटे मोटे शीशों का बड़े 'इंटलेक्चुअल' क़िस्म का चश्मा। फैन्सी सूटों के बदले अक्सर एक निहायत मोटी ट्वीड का कोट पहने रहता है और दिन में पतलून पर सिर्फ़ एक काली जवाहर जैकेट। (उसकी देखादेखी मसूरी के तमाम फ़ेशनेबिल नौजवानों ने काली जवाहर-जैकेटें सिलवा ली हैं।) एक्टर के बजाय साहित्यिक या छोटा-मोटा प्रोफ़ेसर (वह भी इकोनामिक्स का!) मालूम होता है। बातें भी कभी-कभी इसी क़िस्म की करता है। हाँ, उसकी आँखों में वही चुम्बक-जैसी चमक है जो स्क्रीन पर उसके 'क्लोज़-अप' में नज़र आती है, और उसकी आवाज़ में वही रूमानी गहराई है जो स्क्रीन पर सुनाई देती है। (याद है, उसके बारे में कहा जाता है कि उसकी आवाज़ गले से नहीं, दिल से निकलती है!) और उसके होंठों पर वही मुस्कराहट है जो लाखों लड़कियों के दिल की धड़कनों को तेज़ कर देती है!

एक दिन रूप ने बड़े रूमानी अंदाज़ में पूछा, "क्यों राम (पहले दिन वह मिस्टर रामकुमार कहती थीं, दूसरे दिन रामजी,

और तीसरे दिन से सिर्फ़ राम !) तुम्हें बचपन ही से एक्टिंग का शौक़ रहा होगा ?"

और उसने निहायत गैर-रूमानी अंदाज़ में कहा, 'नहीं मिसेज़ माथुर (रूप उसे लाख कहती है कि मैं तुमसे इतनी बड़ी थोड़ा ही हूँ, तुम मुझे सिर्फ़ रूप कहा करो, मगर वह बराबर उन्हें मिसेज़ माथुर ही कहता है।) बचपन में तो मैं रेल के इंजन का ड्राइवर बनना चाहता था और इसके बाद अपने पिताजी की तरह वकील। मगर कालेज में मुझे इकोनामिक्स में दिलचस्पी हो गई, इसलिए इकनामिक्स में एम० ए० कर रहा था जब पढ़ाई छोड़कर बम्बई जाना पड़ा। नहीं अब तक तो मैं मार्क्सिज़्म पर थीसिस लिखकर पी० एच० डी० भी हो जाता।"

इकोनामिक्स ! मार्क्सिज़्म ! सच कहती हूँ, एक एक्टर की ज़बान से ये बातें सुनकर मैं जल ही तो गई। (शायद इसलिए और भी कि ये बातें पहले की सुनी हुई हैं।) मैंने कुछ व्यंग्य-भरे लहजे में पूछा, "तो मिस्टर रामकुमार (वह बराबर मुझसे कहता है कि माना मेरे बाल ग़ायब हो रहे हैं, मगर मैं तुमसे उम्र में इतना बड़ा नहीं हूँ; तुम मुझे सिर्फ़ राम कहा करो। मगर मैं मिस्टर रामकुमार ही कहती हूँ।) फिर आपने मार्क्सिज़्म पर रिसर्च छोड़ कर फ़िल्म-लाइन कैसे अपना ली ? आर्ट की सेवा का भाव एकदम कैसे पैदा हो गया ?"

"आर्ट की सेवा ?" मेरे शब्द दोहराकर वह बड़े ज़ोर से हँसा। "फ़िल्म-लाइन में आर्ट की सेवा कौन बेवक़ूफ़ करता है ?

और सच पूछो, तो तुम्हारे कालेजों, यूनिवर्सिटियों में भी शिक्षा की सेवा कौन करता है ? हम सब ..एक्टर हों या प्रोफ़ेसर...सिर्फ़ अपने पेट की सेवा करते हैं। मैं एक्टर इसलिए बना कि पिताजी का स्वर्गवास हो गया और माताजी मेरी यूनिवर्सिटी की पढ़ाई का ख़र्च नहीं सँभाल सकती थीं। उन दिनों मैंने एक सरकारी दफ़्तर में क्लर्की के लिए अर्ज़ी दे रखी थी और अपना ज़्यादा वक़्त काफ़ीहाउस में गुज़ारा करता था। वहाँ एक दिन रुस्तम ईरानी से भेंट हो गई। वह नए चेहरे की तलाश में लखनऊ आया हुआ था। मुझसे कहने लगा, 'कहो, एक्टर बनोगे' ? मैंने कहा, 'मुझे कोई एतराज़ नहीं मगर तनख्वाह अढ़ाई सौ रुपए माहवार से कम न लूँगा - क्योंकि डेढ़ सौ की नौकरी तो मुझे यहाँ भी मिल सकती है।' उसने कहा, 'मंजूर है।' बाद में मालूम हुआ कि वह पाँच सौ रुपये माहवार तक को तैयार था...ख़ैर, अगले कांट्रेक्ट में मैंने कसर पूरी कर ली...और इस तरह मैं इंसान से एक्टर बन गया।" यह कहकर ख़ूब ज़ोर से हँसा—इतने ज़ोर से कि मुझे इस हँसी में एक अजीब खोखलापन मालूम हुआ, जैसे वह असली न हो, नक़ली हो, फ़िल्मी हो...जैसे उस हँसी की तह में एक गहरी निराशा छिपी हुई हो !

और शम्मो, जो अब तक ख़ामोश बैठी अपनी बड़ी बड़ी आँखों से रामकुमार को देख रही थी, बोली —"क्यों रामजी, क्या एक्टर इंसान नहीं होता ?"

"नहीं," कुछ देर की चुप्पी के बाद वह बोला। "एक्टर

इंसान नहीं होता—या यह कहना चाहिए कि सिर्फ़ आधा इंसान होता है। आधा इन्सान और आधा मशीन...” और फिर जैसे ख़ुद अपने आपसे कह रहा हो या ऊँची आवाज़ में सोच रहा हो—“आधा इन्सान और आधा मशीन। यही एक्टर की ट्रेजेडी है। वह भी दिल और दिमाग़ रखने वाला हाड़-मांस का इन्सान होता है, मगर उससे काम लिया जाता है एक मशीन का। बटन दबाया, वह बिमला से प्रेम करने लगा; बटन दबाया, वह कमला पर मरने लगा; बटन दबाया, वह नीलिमा पर क़ुर्बान हो गया; बटन दबाया, वह अवारा राजकुमार बन गया; बटन दबाया, वह रंगीला कवि बन गया; बटन दबाया, वह देवदास बन गया; बटन दबाया, वह गाने लगा; बटन दबाया, वह हँसने लगा; बटन दबाया, वह रोने लगा...और फिर उससे आशा की जाती है कि उसके आवारापन में भी असलियत हो और उसकी धार्मिकता में भी! उसकी हँसी भी स्वाभाविक हो और उसका रोना भी! वह शराब भी सचमुच की पीए और ज़हर भी सचमुच का खाए! उससे आशा की जाती है कि जब स्क्रीन पर प्रेम करे तो भावनाओं की गहराई में डूब जाए, मगर स्टूडिओ से निकलते ही पवित्र ब्रह्मचारी और महात्मा बन जाए! ये सब भावनाओं की कलाबाज़ियाँ खाना या तो कोई सुपर मैन (Super Man) कर सकता है जो साधारण भावनाओं से ऊँची सतह पर रहता हो, या आधा इन्सान, यानी एक्टर...वह बदक़िस्मत मशीन, जिसकी एक्टिंग में ज़िन्दगी घुली हुई होती है और जिसकी ज़िन्दगी में एक्टिंग शामिल हो जाती है!”

बड़ी ही दिलचस्प होती हैं उसकी बातें। फ़िल्मों में जो डायलाग उससे बुलवाये जाते हैं, उनसे कहीं ज्यादा दिलचस्प। बस, जी चाहता है, बैठी सुनती रहूँ। रोज़ रात को रूप के ड्राइंग रूम में बारह-एक बजे रात तक बैठक होती है। तब हम लोग अपने घर लौटते हैं। सवेरे ही, नाश्ते के फ़ौरन बाद यह सिलसिला फिर चल पड़ता है।

हाँ, एक बात लिखना तो भूल ही गई। शम्मो के पेट का और रूप के सिर का दर्द, दोनों जाते रहे हैं। पिछले दो हफ़्तों से एक बार भी दौरा नहीं पड़ा। जानती हो, किसके इलाज से? रामकुमार के। वह अच्छा एक्टर होने के अलावा एमेचर डॉक्टर भी तो है। होमियोपैथी का बहुत ही क़ायल है। कहता है, उसकी प्लुरिसी को सिर्फ़ होमियोपैथी की दवाइयों ने दूर किया, वरना एलोपैथिक डॉक्टरों ने इंजेक्शन देते-देते उसका बुरा हाल कर दिया था। बड़े मज़े से एक दिन कहने लगा, "अगर दो-चार और इंजेक्शन लग जाते तो मुझमें और छलनी में कोई फ़र्क़ न रहता।" हाँ, तो अब वह होमियोपैथी का न सिर्फ़ ज़बानी प्रोपेगेण्डा करता है, बल्कि होमियोपैथी की किताबें पढ़ता है और दवाएँ बाँटता है। उसके सामान में एक काला चमड़े का बक्स है जो होमियोपैथिक की नन्ही-नन्ही शीशियों से भरा हुआ है। हम लोग उसे अक्सर इन दवाओं के बारे में छेड़ते रहते हैं। कोई कहता है, "अरे भई, आज खाने पर कोई मीठी चीज़ नहीं मिली। लाओ, होमियोपैथी दवा की एक पुड़िया खा लें"—कोई कहता है, "यह तो राम के

हाथ का असर है, वरना इन पुड़ियों में लिपटी हुई शक्कर ही तो है !" मगर इसमें कोई शक नहीं कि उसकी दी हुई पुड़ियों से रूप का न्यूराल्जिया जाता रहा है और शम्मो को भी अब दर्द के दौरे नहीं पड़ते। मगर तुम यह भी कह सकती हो कि राम की मौजूदगी ही इन दोनों के लिए दवा साबित हुई है और इस खुशी से भरपूर भागदौड़ में वे अपनी पुरानी तकलीफ़ों को भूल गई हैं।

और तो और, माथुर साहब भी राम के सख्त क़ायल हो गए हैं—इसलिए कि उसके पास उसकी हीन-भावना का इलाज भी है। कई-कई घण्टे वह उनके साथ शतरंज खेलता रहता है और माथुर साहब ठहरे शतरंज के धुत्ती ! राम का बयान है कि वह बम्बई के दस-बारह सबसे छच्छे शतरंज के खेलाड़ियों में से है, मगर माथुर साहब उससे भी अच्छा खेलते हैं। शतरंज खेलते वक़्त उनकी हीन-भावना बिलकुल जाती रहती है। इस मैदान में वे किसी से नहीं डरते, किसी से नहीं दबते—बल्कि शतरंज खेलते समय उनमें एक नई और अजीब शान पैदा हो जाती है। जब वे अपने मुहरों को आगे बढ़ाते हैं तो ऐसा लगता है जैसे कोई जरनैल अपनी फ़ौजों को मोरचों पर लगा रहा हो। उस समय वे अपनी अधेड़ उम्र, गंजा सिर, चेचक के दाग़, पायरिया की बू—सब भूल जाते हैं। शायद इसीलिए उन्होंने रूप को शतरंज सिखाने की बहुत कोशिश की और शायद इसीलिए रूप ने शतरंज में कभी कोई दिलचस्पी नहीं ली।

हाँ, तो यह है आजकल अपना लाइफ़-पैटर्न (Life Pattern)

दूर सेवॉय होटल का घड़ियाल बारह बजा रहा है...और सवेरे ही पिकनिक पर जाना है। इसलिए अब यह ख़त ख़त्म ही करना चाहिए।

तुम्हारी—
सलमा

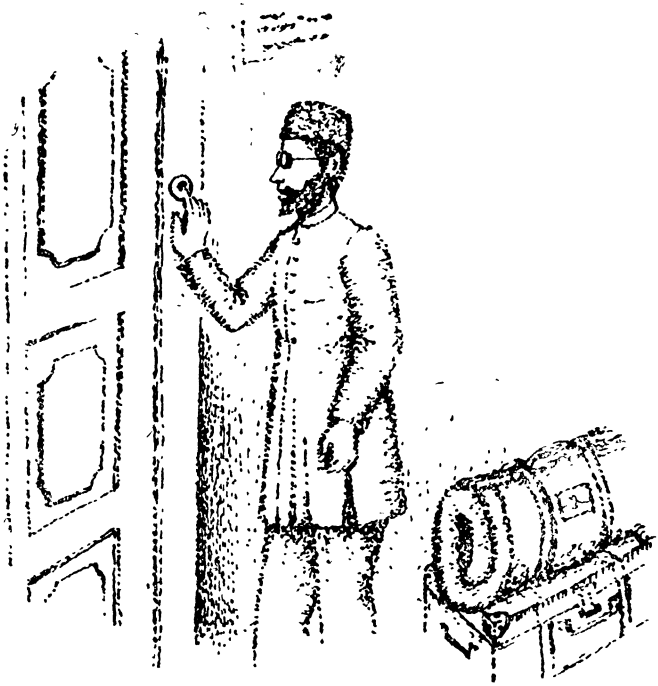

मसूरी,

८, अगस्त, ५२।

डीयर ऊषा,

माफ़ करना, तुम्हारे ख़त का जवाब इतने दिनों बाद दे रही हूँ। बात यह है कि मैं बहुत परेशान हूँ। समझ में नहीं आता, क्या करूँ और किसको अपनी परेशानी सुनाऊँ। तुम मसूरी होतीं तो पुराने दिनों की तरह तुम्हारे सामने अपना रोना रोकर दिल का बोझ हलका कर लेती। अब सोचती हूँ, ख़त ही लिखकर दिल की भड़ास निकालूँ।

यह तो तुम्हें मालूम ही है कि पापा लखनऊ से मुझे इसलिए लाये थे कि मैं अहमद को भूल जाऊँ। मगर मुझे यह न मालूम था कि मेरी क़िस्मत फोड़ने के लिए इसके अलावा दूसरी साज़िशें भी हो रही हैं।

कल हमारे यहाँ पाकिस्तान से एक मेहमान आए हैं—चौधरी हनीफ़ुल्ला। पापा उनको पेट्रोनाइज़िंग तरीक़े से "हैलो, माई ब्वॉय!" कहकर ही पुकारते हैं, मगर उम्र उनकी अड़तीस-चालीस से कम न होगी। अँग्रेजी में दस्तख़त कर लेते हैं और अख़बार हाथ में उलटा नहीं पकड़ते—बस, पढ़े इतने ही हैं! पहले कानपुर में चमड़े और खालों का व्यापार करते थे। बड़े गर्व से कहते हैं कि एक एक साल में उनकी फ़र्म कई लाख की खालें विलायत और अमरीका भेजती थी। (खालों का व्यापार करते-करते इन हज़रत की अपनी खाल भी काफ़ी मोटी हो गई है। कोई मज़ाक़ करो तो तार पहुँचता ही नहीं और छोटे-मोटे ताने को तो शरबत की तरह पी जाते हैं।) जून, सन् ४७, में जैसे ही देश के बटवारे का ऐलान हुआ, इन्होंने चुपके-से अपनी फ़र्म और जायदाद बेच डाली और अगस्त तक सारा रुपया पाकिस्तान पहुँचा दिया। अब लाहौर में सरकारी ठेकों का कारोबार करते हैं। पापा इनके बाप को अच्छी तरह जानते थे, इसलिए उनके बुलाने से यह हज़रत हिन्दुस्तान, बल्कि मसूरी तक आ तो गए हैं, मगर हर वक्त जान और माल का ख़तरा लगा रहता है। (माल का ख़तरा इसलिए कि सन् ४७ तक का कई लाख इंकमटैक्स देना है और अगर इंकमटैक्स वालों

को मालूम हो गया तो डर है कि यहीं गिरफ़्तार न कर लिए जाएँ !) जान का ख़तरा तो हर वक़्त ही लगा रहता है। हर हिन्दू और सिख को शक की नज़र से देखते हैं कि न जाने कब छुरी निकाल कर घोंप दे। हिन्दुस्तान में हमारे जैसे जो मुसलमान रह गए हैं, उनको ऐसा समझते हैं जैसे क़ुर्बानी के बकरे हैं, जिनको आज या कल हिन्दुओं के हाथों ज़बह होना है। काफ़ी बेवक़ूफ़ आदमी हैं! और उनकी हरकतें और बातें दिलचस्पी का सामान बन सकती थीं, मगर वह यहाँ 'उम्मीदवार' की हैसियत से बुलाए गए हैं। यानी पापा मुझे उनके हाथ बेचना चाहते हैं। (उनको उम्मीद है कि हनीफ़ साहब के असर से वे भी पाकिस्तान पहुँचकर जायदाद या बिज़िनेस वगैरह हासिल कर लेंगे।) और मुझे ग़ुस्सा तो इस बात पर आता है कि इन हनीफ़ साहब का General Attitude (आम रवैया) हमारी तरफ़ ऐसा है जैसे हम पर बड़ा अहसान कर रहे हों। समझ में नहीं आता, क्या करूँ ? कभी सोचती हूँ कि घर छोड़ कर भाग जाऊँ, कहीं नौकरी करके गुज़ारा करूँ, मगर इस क़साई के हाथों बिकने से तो बच जाऊँ। मगर ऐसी बातें कहानियों और उपन्यासों में तो आसान मालूम होती हैं, असल ज़िन्दगी में मुश्किल नज़र आती हैं। घर छोड़ कर जाऊँ तो कहाँ जाऊँ, कहाँ ठहरूँ ? नौकरी कैसी और कहाँ तलाश करूँ ? बी० ए० पास लड़कियाँ तो सैंकड़ों की तादाद में आजकल मारी-मारी फिरती हैं। किसी स्कूल में मास्टरनी हो भी गई, तो साठ-सत्तर रुपए में गुज़ारा कैसे होगा ? और फिर माँ-बाप को नाराज़ और Defy क़रूँ भी तो किसके

सहारे पर ? दुनिया में मेरा है कौन ? अहमद को अपनी इकोनामिक्स और मार्क्सिज्म से कब फ़ुरसत मिलती है जो किसी के जज़्बात ख़याल करें। और मैं इतनी Cheap (सस्ती) तो नहीं बनना चाहती कि ज़बर्दस्ती किसी के सिर पड़ जाऊँ। मतलब यह कि रात दिन इसी उधेड़बुन में गुज़रते हैं। दिन भर हनीफ़ साहब की बकवास सुननी पड़ती है, जो ज़्यादातर खालों और जूतों के बारे में होती है। (कभी-कभी तो ऐसा लगता है कि वह हर एक को इसी नज़र से देखते हैं कि इसकी चमड़ी उधेड़ ली जाए तो उसमें से कितने जूते बन सकते हैं !) इसके बाद ममी और भाईजान के लैक्चर सुनने पड़ते हैं कि हिन्दुस्तान में तो मुसलमान लड़कियों को अब अच्छे लड़के मिल ही नहीं सकते, क्योंकि जितने मालदार, पढ़े-लिखे, ओहदेदार मुसलमान नौजवान थे वे सब पाकिस्तान चले गए हैं। और फिर पापा Indirectly हर समय हनीफ़ साहब की तारीफ़ के पुल बाँधते रहते हैं। लाखों का कारोबार है, करोड़ों की जायदाद है; लाहौर में एक जज का दोमंज़िला बंगला एलॉट हो गया है; एक सिनेमा मिल गया है, एक जूतों का कारख़ाना है, गवर्मेण्ट से ठेके मिलते रहते हैं। मरी में एक ख़ूबसूरत काटेज है, तीन मोटरें हैं, वगैरह-वगैरह। मतलब यह, मेरी जान, कि क़ीमत अच्छी मिल रही है। इसको क्या किया जाए कि, "पर तबीयत उधर नहीं आती" ! हनीफ़ साहब, चमड़े के व्यापारी, के हाथों अपनी चमड़ी उधड़वाना मंज़ूर नहीं।

दो दिन न माथुर साहब के यहाँ गई हूँ, न रामकुमार से भेंट

हुई है। वे लोग भी क्या कहते होंगे कि सलमा को क्या हो गया है ? मगर पापा और ममी की खुशी के लिए हर वक्त हनीफ़ साहब की खातिरदारी करनी पड़ती है ना ! क्या किया जाए ?

इतना कुछ तुम्हें लिखने के बाद दिल किसी क़दर हलका हुआ है। देखो, शायद कोई सूरत निकल आए। जवाब जल्द देना। इस घुटन और जलन में तुम्हारी चिट्ठियों ही से कुछ शांति मिलती है।

तुम्हारी परेशान और हारी हुई—
सलमा

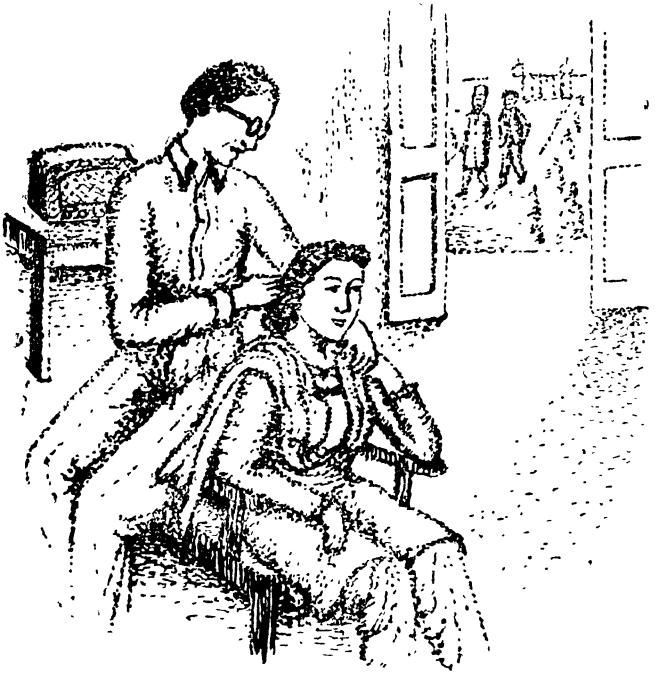

मसूरी,

१८, अगस्त, ५२।

ऊषा प्यारी,

सबसे पहले तो खुशखबरी सुनलो। चौधरी हनीफुल्ला साहब, चमड़े के व्यापारी व ठेकेदार पाकिस्तान गवर्मेण्ट, कल लाहौर वापस जाने के लिए सामान बाँध रहे हैं। पापा और ममी और भाईजान, तीनों बहुत निराश हैं—इसलिए कि हनीफ़ साहब ने मुझसे शादी करने से साफ़-साफ़ इन्कार कर दिया है। और मैं खुश हूँ.... इतनी .खुश कि .खुशी से फटी जा रही हूँ.....

यह सारी काया-पलट हफ़्ते भर में कैसे हुई, यह बड़ी दिलचस्प कहानी, बल्कि फ़िल्मी-सीनारियो है—और इसका हीरो है—रामकुमार !

सुनो। हुआ यह कि जब दो दिन तक मैं माथुर साहब के यहाँ नहीं गई तो तीसरे दिन क्या देखती हूँ कि रामकुमार साहब हमारे यहाँ चले आ रहे हैं। उस समय पापा और ममी अपने कमरे में आराम कर रहे थे और भाईजान हनीफ़ साहब को लेकर डाकख़ाने गए हुए थे। (हनीफ़ साहब को अपने कारोबार के सिलसिले में कोई ज़रूरी तार देना था और ऐसे काम वह कभी नौकरों पर नहीं छोड़ते।) मैं गोल कमरे में बैठी रेडियो का डायल घुमा रही थी कि दरवाज़ा खुला और रामकुमार साहब, "हलो, सलमा !" कहकर दाख़िल हुए। मुझे देखते ही बोले "कहो, तबीयत तो अच्छी है ? तुम तो ऐसी लगती हो जैसे बरसों से बीमार हो। कहो तो अपने काले बक्स में से एक शक्कर की पुड़िया दे दूँ...या कोई इमोशनल बुख़ार चढ़ा हुआ है ? सुना है, कोई पाकिस्तानी डानजुआन आए हुए हैं ?" ये बातें उसने कुछ ऐसी मुलायम आवाज़, ऐसी हमदर्दी और ऐसे मज़ाक़िया लहजे में कहीं कि बेइख़्तियार मैं रो पड़ी।

"अरे, अरे, यह क्या ? तुम तो बिलकुल बच्ची निकलीं। कहो तो, परेशानी क्या है ?" फिर तो मुझसे न रहा गया और मैंने उसको हनीफ़ुल्ला साहब के आने का कारण बता ही दिया।

"हूँ !" उसने सोचते हुए कहा। "यह तो बड़ी गड़बड़ है।

फिर क्या किया जाए ?"

और उस वक्त न जाने कहाँ से एक daring (दुस्साहसपूर्ण) ख़याल मेरे दिल में आया और मैंने बक दिया—"इस मुश्किल को आप ही आसान कर सकते हैं, राम साहब !"

"मैं ?" वह घबराकर बोला। "वह कैसे ?"

पहले तो मैं हिचकिचाई, मगर फिर मैंने हिम्मत करके कह ही दिया—"अगर आप...झूठ-मूठ...कुछ दिन के लिए...मेरा मतलब है... कि....मुझमें दिलचस्पी लेने लगें ....तो हनीफ़ साहब shocked होकर भाग जाएँगे।"

"ओह !" और उसकी आँखें ख़ुशी से चमक उठीं। जैसे किसी बच्चे को कोई बड़ा दिलचस्प खिलौना खेलने को मिल जाए। "यह तो आसान बात है। और झूठ-मूठ क्या, तुममें सचमुच दिलचस्पी लेना भी कोई मुश्किल नहीं है।" यह कहकर वह हँस पड़ा और मैंने सोचा, वह मज़ाक़ कर रहा है, वरना जिस पर हिन्दुस्तान की ख़ूबसूरत से ख़ूबसूरत लड़कियाँ जान देती हैं, वह भला मुझमें दिलचस्पी कैसे लेने लगा ? मगर उसने कहा, "अब तुम फ़िक्र न करो। चमड़े के व्यापारी को मसूरी से भगाना मेरे ज़िम्मे है।"

"तो फिर कब से आप....?" मैं पूछना चाहती थी कि यह नाटक कब से शुरू होगा।

मेरी हकलाहट और हिचकिचाहट के बावजूद वह मेरा सवाल समझ गया और बोला—"कब से क्या आज से—अभी से....."

उसी वक्त बाहर से बाग़ का दरवाज़ा खुलते और बंद होने की आवाज़ आई और फिर हनीफ़ और भाईजान के जूतों की चरम-राहट। रामकुमार अपनी कुर्सी से उठा और मेरी कुर्सी के हत्थे पर बैठ गया और बड़े प्यार से मेरे बालों पर हाथ फेरने लगा।

दरवाज़ा खुला और हनीफ़ साहब और भाई जान दाख़िल हुए। मेरा तो रंग फ़क़ हो ही गया कि अब क्या होगा? मगर राम भी घबरा गया और घबराकर मेरे पास से उठ खड़ा हुआ—जैसे चोर चोरी करते पकड़ा जाए। (बाद में मालूम हुआ कि यह सब उसकी एक्टिंग थी!) और खिसियानी-सी हँसी हँसकर उसने भाईजान की तरफ़ हाथ बढ़ाया—"ओ, हैलो, सलीम, कहो, कैसे हो? कई दिन से मिले नहीं—" और फिर हनीफ़ साहब की तरफ़ देखकर—"भई, अपने दोस्त से तो मिलाओ।"

भाईजान ने अपने गुस्से को कंट्रोल करते हुए उन दोनों का परिचय कराया—"आप हैं हमारे दोस्त हनीफुल्ला साहब—पाकिस्तान से आए हैं। और आप हैं मिस्टर रामकुमार—बड़े मशहूर फ़िल्म-स्टार। इनको तो स्क्रीन पर आपने देखा ही होगा?"

हनीफ़ ने बेरुख़ी से हाथ मिलाते हुए कहा—"ओह, एक्टर!" और जिस तरह उसने 'एक्टर' कहा उसमें नफ़रत कूट-कूट कर भरी हुई थी। "नहीं, मैंने नहीं देखा। मेरा अपना सिनेमा है, मगर मैं फ़िल्में नहीं देखता। अव्वल तो फ़ुरसत नहीं मिलती और फिर .. कोई ख़ास दिलचस्पी नहीं है।"

"अच्छा ही करते हैं आप। फ़िल्मों में धरा ही क्या है। फ़िल्म

बनाने से जूता बनाना कहीं ज्यादा दिलचस्प काम है।" और फिर फ़ौरन ही भाईजान से बोला—"कहो सलीम, स्केटिंग रिंक चलते हो ?"

भाईजान ने मुंह बनाकर कहा – "नहीं तुम जाओ। मुझे हनीफ़ साहब के साथ कुछ बातें करनी हैं।

"अच्छा तो बाई-बाई ! आदाब अर्ज़, हनीफ़ साहब ! आओ सलमा, हम चलते हैं।" यह कहकर उसने बेतकल्लुफ़ी से मेरा हाथ पकड़ा और उन दोनों को हैरान छोड़कर मुझे खींचता हुआ बाहर ले आया।

बाग में पहुँच कर उसने मेरा हाथ छोड़ दिया। बेफ़िक्र रहो, अब हनीफ़ साहब तुमसे कभी शादी न करेंगे। मगर इस काम के इनाम में मेरे साथ इस समय स्केटिंग को चलना होगा।"

उस शाम को हम लोग दो घंटे तक स्केटिंग करते रहे। सबकी नज़रें हम पर थीं। तमाम लड़कियाँ मुझे ईर्ष्या से देख रही थीं। पाँच बजे के क़रीब भाईजान और हनीफ़ वहाँ आए, हम लोगों को स्केटिंग करते हुए देखा, और वापस जाने लगे। मगर राम ने (जो रोलर स्केट्स पर बिजली की रफ्तार से चल सकता है !) उन्हें दरवाजे के क़रीब पकड़ लिया। "अरे भाई सलीम, कहाँ चले ? आइए न हनीफ़ साहब ! आपको स्केटिंग कराएँ।"

"शुक्रिया। मगर हम लोग हेकमैन्स जा रहे हैं," हनीफ़ साहब ने कहा और वे दोनों चले गए।

कुछ मिमट बाद राम ने कहा—"अब स्केटिंग से जी घबरा

गया है। चलो, हेकमैन्स में डाँस करेंगे। तुम्हें डांस करना आता है न ?"

"हाँ, आता तो है थोड़ा-थोड़ा, मगर मुझे मालूम नहीं था कि आप भी डांस करते हैं," मैंने कहा।

"किसी ज़माने में सीखा था। कोई खास पसंद नहीं, इसलिए मुद्दत से छोड़ रखा है। मगर आज तो डाँस करना ही पड़ेगा। ड्यूटी इज़ ड्यूटी !"

सो हम हेकमैन्स पहुँचे। पापा और ममी अब तक नहीं आए थे। हनीफ़ुल्ला साहब और भाईजान एक कोने में बैठे ह्विस्की पी रहे थे, और उनके पास से हम गुज़रे तो हनीफ़ को कहते सुना कि 'पाकिस्तान में शरीयत वालों के डर से छुपकर पीनी पड़ती है। यहाँ तो पी लें।" राम सीधा मुझे डांस-फ्लोर पर ले गया। बैंड ब्यू-डेन्यूब का वाल्ट्ज़ बजा रहा था। रोशनियाँ धीमी होती गईं और हम डांस करने रहे और संगीत की लहरों पर बहते-बहते न जाने कहाँ पहुँच गए। मगर उसने एक बार भी धीमी रोशनियों से फ़ायदा उठाकर चूमने की कोशिश नहीं की और न ज़रूरत से ज्यादा हद तक सीने से चिमटाया। ऐसा लगता था कि उसने अपने ऊपर कुछ हदें क़ायम कर ली हैं और उनके बारे में बहुत सतर्क है। हाँ, जब भाईजान और हनीफ़ साहब की मेज़ के पास से हम डांस करते हुए गुज़रते, तो उसका मुंह मेरे और क़रीब आ जाता—यहाँ तक कि मैं उसका गर्म साँस अपने गाल पर महसूस करती...और मेरे लिए यह याद रखना मुश्किल हो जाता कि हम

सिर्फ़ एक नाटक कर रहे हैं—सचमुच का प्रेम नहीं हो रहा।

जब वाल्ट्ज़ ख़त्म हुआ और रोशनियाँ उभर आईं तो हमने देखा कि हनीफ़ साहब और भाईजान अपनी मेज़ से ग़ायब हैं, मगर पापा और ममी एक और मेज़ पर बैठे हुए हैं।

"हैलो, कुँवर साहब," राम पापा से बड़े तपाक से मिला और ममी को बड़े अदब से उसने नमस्ते की। "आपकी लड़की ने थोड़ी-सी प्रेक्टिस और की, तो अच्छा डाँस करने लगेगी।"

पापा तो तुम जानो, सोशल एटीकेट (सामाजिक शिष्टाचार) के बड़े क़ायल हैं। उन्होंने ग़ुस्से की झलक भी चेहरे पर न आने दी। राम से इधर-उधर की बातें करने रहे। जब घड़ी ने सात बजाए तो पापा ने कहा, "चलो, सलमा, घर चलें। हनीफ़ साहब, इंतजार कर रहे होंगे।"

मगर राम ने फ़ौरन बात काटकर कहा, "माफ़ कीजिएगा, कुँवर साहब, मगर सलमा तो आज हमारे साथ माथुर साहब के यहाँ खाना खा रही है। बात यह है.....कि आज मेरी सालगिरह है...इसलिऐ आज तो इसे आना ही पड़ेगा। इरादा आप सब को बुलाने का था, मगर मालूम हुआ कि आपके यहाँ मेहमान आए हुए हैं।"

पापा ने ज़हर का घूँट पीते हुए आज्ञा दे दी।

रास्ते में रिक्शा में मैंने पूछा—"मुझे मालूम नहीं था कि आज आपकी सालगिरह है, वरना मैं कोई तोहफ़ा लाती।"

"ओह, सालगिरह!" उसने कहा, जैसे उसके बारे में बिलकुल

भूल गया हो। "हाँ, सालगिरह...एक्टर की सालगिरह क्या ? वह तो रोज़ पैदा होता है और रोज़ मर जाता है !" और एक ठंडी साँस खोखले ठहाके में खो गई।

माथुर साहब के यहाँ पहुँचे तो ड्राइंग-रूम को ख़ाली और वीरान पाया। सिर्फ़ माथुर साहब अकेले बैठे शतरंज के मोहरों को उलट-पलट रहे थे।

"अरे भाई राम, कोई दवा दो," उन्होंने परेशान नज़रों से हमें देखकर कहा। "रूप को फिर न्यूराल्जिया का दौरा पड़ रहा है।"

राम ने काला बक्स खोला ही था कि कमरे से चीख़ों की आवाज़ आई। मैं और माथुर साहब उधर दौड़े। क्या देखते हैं कि शम्मो अपने पलंग पर पड़ी दर्द के मारे कराह रही है। माथुर साहब ने बेटी को सम्हालते हुए मुझसे कहा, "जाना, सलमा, ज़रा शम्मो के लिए दवा लाना।"

राम ने एक शीशी निकाली उसमें से दवा निकाल कर दो पुड़ियाँ बनाईं। शम्मो के कमरे में जाकर एक पुड़िया उसे अपने हाथ से खिलाई। थोड़ी देर उसके माथे पर अपना हाथ रखा, और फिर बड़े नर्म स्वर में कहा, "बस, अब तुम्हारा दर्द जाता रहेगा।" और सचमुच उसी दम शम्मो की तड़प में कमी हो गई और कुछ मिनट के बाद उसने आँखें खोल दीं और कमज़ोर-सी आवाज़ में कहा, "थैंक यू रामजी !" फिर वह रूप के कमरे में गया। उसी दवा की दूसरी पुड़िया उनको दी। उनके सिर को हल्के-हल्के दबाया। थोड़ी ही देर में उनके न्यूराल्जिया का दौरा भी धीमा पड़ गया।

फिर उसने कहा, 'देखिए मिसेज़ माथुर, आधे घंटे में आपका दर्द दूर हो जाना चाहिये ! आज मेरी सालगिरह है, इसलिए खाने के बाद मैं आप सबको सिनेमा ले चल रहा हूँ।" यह कहकर वह बाहर कमरे में आ गया।

मैंने पूछा, "मगर मिसेज़ माथुर को न्यूरालिजया है और शम्मो के पेट में दर्द है। यह कौन सी दवा है जो आपने दोनों को दे दी है ?"

उसने कहा, "इग्नेशिया हिस्टीरिया की हर शक्ल में फ़ायदा करती है।"

बिलीव इट ऑर नॉट (Believe it or not !) आधे घंटे में रूप और शम्मो दोनों को इतना फायदा हो गया कि वे न सिर्फ़ खाने की मेज़ पर आईं, बल्कि सिनेमा भी गईं। जब राम ने मुझे सिनेमा चलने की दावत दी तो मैंने कहा, "आप चाहते हैं कि आज मुझे घर से बिलकुल ही निकाल दिया जाय ?" और उसके जवाब से मैं लाजवाब हो गई। उसने कहा, "शायद आपकी कठिनाइयों का यही हल है। आप अपने घर के दरवाज़े तक आ गई हैं, अंदर वापस आप जाना नहीं चाहतीं; बाहर आने की आप में हिम्मत नहीं। ऐसी हालत में अगर आपके माँ-बाप आपको घर से निकाल दें, तभी बाहर की दुनिया में आ सकती हैं। वरना हमेशा आप दहलीज़ पर इसी तरह खड़ी रहेंगी कि एक क़दम अंदर और एक बाहर।"

सिनेमा के बाद घर पहुँची तो देखा, पापा ड्राइंग-रूम में

अँगीठी के पास बैठे मेरा इंतज़ार कर रहे हैं। मुझे देखते ही गरजकर बोले, "अब आई हो ?" मैं कुछ कहने वाली ही थी कि हनीफ़ साहब एक लबादानुमा ड्रेसिंग-गाउन पहने अपने कमरे से निकल आए। मेरी तरफ़ एक नज़र देखा, मगर कुछ बोले नहीं। पापा के क़रीब जाकर मुझे सुनाने के लिये कहने लगे, "पाकिस्तान में ऐसे लोग भी हैं जो बेपरदा लड़कियों की चोटियाँ काट देते हैं ?" यह सुनकर मैं जल ही तो गई, मगर मैंने चुप रहने ही में ख़ैरियत समझी। मैं जानती थी कि एक मेहमान के सामने पापा कभी मुझे कुछ नहीं कहेंगे, इसलिए जल्दी मैं अपने कमरे में....दरवाज़ा बंद और बत्ती गुल....और मैं अपने बिस्तर के अन्दर !

अगले दिन से तो मैंने ढिठाई पर कमर बाँध ली। क्योंकि हनीफ़ से छुटकारा पाने की यही एक सूरत थी कि मैं रामकुमार के साथ ज्यादा से ज्यादा वक़्त गुज़ारूँ। शाम को हम लोग इकट्ठे टहलने निकलते। लाइब्रेरी के सामने से गुज़रते तो सारी भीड़ की निगाहें हम पर होतीं। लड़कियाँ तो ईर्ष्या से देखती ही थीं, लड़के भी मुझे एक नये ढंग से देखने लगे—जैसे अफ़सोस कर रहे हों कि उन्होंने मेरा 'नोटिस' लेने में पहल क्यों न की। स्केटिंग रिंक, हेकमैन्स बालरूम, सिनेमा—हर जगह हम साथ नज़र आते। एक अख़बार ने तो हमारी मँगनी की ख़बर छाप दी और कल जब 'स्क्रीन' आया, तो उसके पहले पृष्ठ पर ही हमारी तसवीर थी, जो डांस करते वक्त किसी ने फ़्लैशलाइट से ली थी। (तुमने भी यह तसवीर शायद देखी होगी।) इस तसवीर का छपना

था कि हनीफ़ साहब ने मुझसे फ़ॉर्मल बातचीत भी बंद कर दी और सामान बाँधना शुरू कर दिया।

पापा नाराज़ हैं, ममी नाराज़ हैं, भाईजान से बात करती हूँ तो वे काटने को दौड़ते हैं। मैं जानती हूँ कि हनीफ़ साहब के जाते ही मुझ पर वह डाँट पड़ेगी कि छठी का दूध याद आ जाएगा। मगर अभी तो सिर्फ़ यह इतमीनान है कि हनीफ़ साहब जा रहे हैं और मेरी खाल के जूते नहीं बनेंगे। आगे जो होगा, वह भुगत लिया जायगा।

तुम्हारी—

सलमा

पी० एस : मेरी जान, मेहरबानी करके इन सब बातों को अपने तक ही रखना।

मसूरी,

२६, अगस्त, ५२।

ऊषा, माई डार्लिंग,

तुम्हारे दोनों ख़त मिले। तुमने इकोनामिक्स पढ़नी शुरू कर दी है तो इसका यह मतलब नहीं कि ख्वाह-म-ख्वाह अपने प्रोफ़ेसर साहब की तरफ़दारी करो। मैं उनको हरगिज़ ख़त नहीं लिखूँगी; वो अपने आपको समझते क्या हैं कि मुझे ख़त में लिखते हैं, "सुना है, वह उल्लू रामकुमार आजकल मसूरी आया हुआ है और रईसों की बेटियाँ परवानों की तरह उस पर फ़िदा हो

रही हैं।" उनसे कहना, ज़रा शीशे में अपनी सूरत तो देखें और फिर रामकुमार पर फिक़रे कसें। और अगर वे इसे मज़ाक़ समझते हैं, तो मुझे ऐसे मज़ाक़ नहीं पसन्द!

लगता है, तुम भी फ़िल्मी एक्टरों को संदेह की नज़रों से देखती हो। भला यह तुम को कैसे ख़्याल हो गया कि रामकुमार Shallow (छिछला) और ओछा है? तुम उसकी बातें सुनो, तो 'जुम' हो जाओ। दुनिया के सवालों पर उसकी नज़र तुम्हारे बहुत से प्रोफ़ेसरों (ख़ासकर इकोनामिक्स के कुछ प्रोफ़ेसरों) से कहीं ज्यादा गहरी है।

परसों हम दूर तक टहलने गए थे। रास्ते में मैंने कहा, "इतने दिन आपको यहाँ आए हुए हो गए हैं, मगर आपने फ़िल्मी दुनिया के बारे में कुछ नहीं बताया"

राम ने कहा, "देखो भई, मैं फ़िल्मी दुनिया से भागकर यहाँ आया हूँ और तुम अपने सवालों से मुझे फिर उसी दलदल में धकेलना चाहती हो।" और फिर थोड़ी-सी देर की ख़ामोशी के बाद—"सोचता हूँ, तुम्हें फ़िल्मी दुनिया के किस पहलू के बारे में बताऊँ। उन फ़िल्म-स्टारों के बारे में जो सुन्दर हैं मगर जिनको सच्चा प्रेम कभी नसीब नहीं हुआ? उन डेढ़-डेढ़ लाख रुपये फ़ी पिक्चर लेने वाली हीरोइनों के बारे में जो दिन-रात शूटिंग के कोल्हू में पिलती हैं ताकि उनके भाई या बाप या माएं या नाम के अभिभावक उनकी कमाई से शराबें पिएँ, रंडीबाज़ी करें, जुआ और सट्टा खेलें शार्कस्किन के सूट पहन कर ब्यूक और पेकर्ड कारों

में घूमें या उनके बारे में जिनके नाम से बैंकों में कई लाख रुपए जमा हैं, मगर जिनको पाँच-पाँच बरस तक एक हफ्ते की छुट्टी नसीब नहीं होती ? उनके बारे में, जो अमरीकन फ़िल्मों की कहानियाँ चुराकर बीस-बीस हज़ार में बेचते हैं, या उनके बारे में जिनको कुछ सौ रुपए उन फ़िल्मों की कहानियों, सम्वादों और गानों के मिलते हैं, जिनके टाइटल्स पर किसी और का नाम आता है ? उन एक्स्ट्राज़ के बारे में जो बरसों तीन-चार रुपए रोज़ पर भीड़ के दृश्यों में काम करते हैं, इस आशा पर कि किसी दिन उनकी क़िस्मत भी चमकेगी और वे अशोक कुमार और मोतीलाल और राज कपूर की जगह लेंगे ? या उन कुलियों के बारे में जो डेढ़ रुपये रोज़ के लिए बंदरों की तरह रस्सियों पर चढ़ते हैं और भारी-भारी लाइटों को स्टुडियो की छत से लटके हुए तख़्तों पर लगाते हैं और हर घड़ी अपनी जान को ख़तरे में डालते हैं ? उन शरीफ़ों की बेटियों के बारे में जिनका चरित्र कोठेवालियों से बदतर है, या उन वेश्याओं की बेटियों के बारे में जो संजीदा और शरीफ़ हैं ? उन मूर्खों के बारे में जो अपने आपको जीनियस समझते हैं, या उन जीनियसों के बारे में जिनको सब बेवकूफ़ और उल्लू समझते हैं ? फ़िल्मी-दुनिया भी दुनिया के तरह बहुरंगी है, सलमा।'

जो आदमी ऐसा दार्शनिक दृष्टिकोण रखता हो, क्या उसको छिछोरा कहा जा सकता है ?

तुम्हारे इस वाक्य को पढ़कर कि "रामकुमार फ़िल्म एक्टर है, बच के रहना !' मुझे गुस्सा भी आया और हँसी भी। गुस्सा इस-

लिए, कि लगता है कि तुम भी साधारण लोगों की तरह यह समझती हो कि हर फिल्म-स्टार आवारा, बदमाश, बल्कि हुस्न का डाकू और भोली-भाली लड़कियों की इज्ज़त का लुटेरा होता है; और इस गिरोह में तुम रामकुमार को भी शामिल करती हो। और हँसी इसलिए कि तुम्हारा डर कितना ग़लत है। पिछले तीन-चार हफ्ते में दर्जनों बार हम अकेले मिले हैं, उजाले में भी और अँधेरे में भी। साथ डांस भी किया है और दूर तक वॉक (walk) को भी गए हैं मगर अब तक एक बार भी उसने कोई ग़ैर-शरीफ़ाना हरकत नहीं की। बल्कि मैं तो कहूँगी कि बोर होने की हद तक शरीफ़ होने का सबूत दिया है। मज़ा यह है कि दूसरों की मौजूदगी में वह मुझसे ज्यादा बेतकल्लुफ़ी से बात करता है—Flirtatious अंदाज़ में मज़ाक़ भी करता है। लेकिन जब सिर्फ़ हम दोनों होते हैं, 'और कोई तीसरा नहीं होता,' तो वह बड़ी सावधानी से अपने और मेरे बीच शरीफ़ाना फ़ासला रखता है।

बात यह है, ऊषा, कि तुमने "रामकुमार दि एक्टर" को स्क्रीन पर देखा है और मुझे इन दिनों "रामकुमार दि मैन" को क़रीब से देखने का मौक़ा मिला है। और तुमसे यह कहने में मुझे कोई परदा नहीं कि मैं उसे बहुत पसन्द करने लगी हूँ और शायद वह भी..परसों वह मुझसे कहने लगा, "जानती हो, सलमा, मेरी ज़िन्दगी में तुम पहली लड़की हो जिससे मैं दिल खोलकर दोस्तों की तरह बात कर सकता हूँ।"

कभी-कभी मुझे ऐसा लगता है कि बावजूद अपनी तमाम

कामयाबी और शोहरत के उसकी ज़िन्दगी में किसी चीज़ की कमी है—शायद प्रेम की। लगता यह अजीब है कि वह नौजवान, जिस पर हज़ारों लड़कियाँ जान देती हैं और जो स्क्रीन की हर सुन्दरी के साथ फ़िल्मों में इश्क कर चुका है, अपनी निजी ज़िन्दगी में मुहब्बत की कमी महसूस करे। मगर सचाई यही मालूम होती है। "बात यह है, कि सलमा," वह एक दिन कहने लगा, "कि बग़ैर understanding के मुहब्बत पूरी और पायेदार नहीं हो सकती और हममें से कितने हैं जो दूसरों को तो क्या, अपने आपको समझने की भी योग्यता रखते हैं?" और फिर एकाएक मेरी नज़रों से अपनी नज़रें बचाकर दूसरी तरफ़ देखते हुए, "क्यों सलमा, तुमने कभी किसी से मुहब्बत की है? मामूली फ़्लर्टेशन नहीं, जो मसूरी और नैनीताल की रूमानी फ़िज़ा में हर रोज़ होती रहती है, बल्कि असली, सच्ची, गहरी मुहब्बत जो इन्सान की ज़िन्दगी को रङ्गीनी और ख़ुशी और संगीत से भर देती है और साथ ही उसका पहली बार दुख और ग़म से परिचय कराती है! यह मुहब्बत, यह प्रेम भी बहुत अजीब बीमारी है!"

और न जाने क्यों...न जाने कैसे...मेरे जी में आया कि उसे सब कुछ बता दूँ—वह भी जो उस समय तक मैं अपने आपसे भी छुपाए हुए थी। शायद इसलिए कि मेरा ख़याल था और है कि वह मेरे (या किसी और के) दिल का हाल मुझसे बेहतर जान सकता है और मेरे दिल के सवालों को मुझसे बेहतर समझ सकता है। मैंने उसको अहमद के बारे में सब कुछ बता दिया—कैसे हमारी

पहली मुलाकात हुई, कैसे हम धीरे-धीरे एक-दूसरे के क़रीब आते गए, कौन-कौन सी बातों में हम एकमत हैं और किन बातों में हमारे विचार अलग-अलग हैं। फिर अहमद की मानसिक विशेषताओं के बारे में, उसकी ज़रूरत से ज्यादा आत्मसम्मान की भावना के बारे में। "क्योंकि मेरे पापा ताल्लुकेदार हैं और वह ढाई सौ माहवार पाने वाला लेक्चरर है," मैंने कहा, "वह मुझसे शादी के लिए नहीं कहता। यहाँ तक कि कभी उसने मुहब्बत का इकरार तक नहीं किया..ऐसे आदमी कब तक मुहब्बत कर सकता है ? ऐसे कब तक कोई इंतज़ार कर सकता है ?"

और उसने मुस्करा कर कहा, "प्यार तर्क को नहीं मानता, सलमा ! और इंतज़ार .....अगर चीज़ इंतज़ार के काबिल हो तो आदमी उम्र भर इंतज़ार कर सकता है !" और न जाने क्यों मेरी आँखों में आँखें डाल कर कहा—"हाँ, सलमा, उम्र भर इंतज़ार कर सकता है !" और फिर जैसे एकाएक अपनी भावनाओं को छुपाने के लिए मज़ाक़ का परदा डालना चाहा। हँसकर बोला, "लेकिन यह खुशक़िस्मत, मगर टुटपुँजिया प्रोफ़ेसर है कौन ?"

मैंने कहा, "आप नहीं जानते शायद। उसका नाम है..... अहमद !"

"अहमद ? इकोनामिक्स वाला अहमद हुसैन तो नहीं ?"

मैंने कहा, "हाँ, वही। क्यों ? क्या आप अहमद को जानते हैं ?"

"हाँ,—कुछ, कुछ—मैं भी इकोनामिक्स का स्टुडेंट था न !"

और इसके बाद न जाने क्यों उसने बातचीत का रुख एकदम बदल दिया और हम माथुर परिवार की मनोवैज्ञानिक छान-बीन करते हुए घर लौट आए।

तो उषा, जानी, यह है मेरे प्यार की ज़िन्दगी का दोराहा! दुनिया में तुम्हीं तो हो, जिससे मैं ये सब कुछ कह सकती हूँ और जिससे मैं सलाह ले सकती हूँ। खुदा के लिए इन बातों का ज़िक्र न करना किसी से—मगर अपनी राय ज़रूर लिखना!

—सलमा

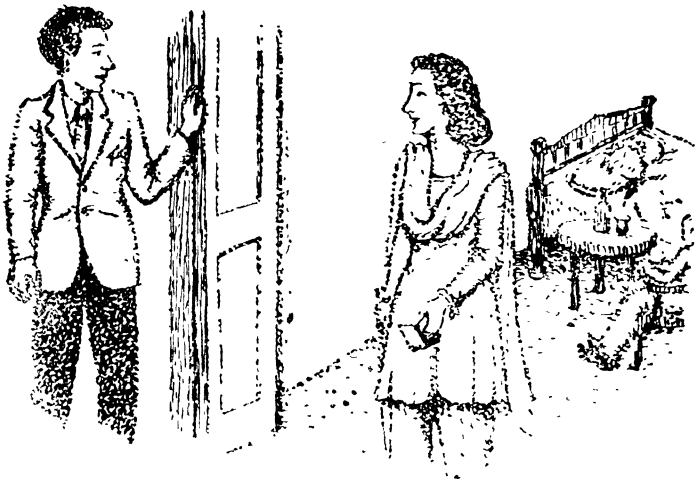

मसूरी ,

१४, सितम्बर, ५२ ।

ऊषा,

सोचती हूँ, यह जीवन ट्रेजेडी है या कामेडी ? एक कॉमिक-ट्रेजेडी या एक ट्रेजिक कॉमेडी ? या कुछ पुतलियों का बेमानी नाटक, जिसमें भगवान या खुदा या कर्म या क़िस्मत के हाथों में वे डोरियाँ हैं जिनसे हम इंसानों को उठाया-बैठाया, हँसाया-रुलाया जाता है ? या (जैसा हमने मार्क्सिस्ट इकोनामिक्स की किताबों में पढ़ा है) सामाजिक, राजनैतिक और रहन सहन के हालात हमारे निजी जीवन, यहाँ तक कि हमारे दिल की भावनाओं

को भी बनाने-बिगाड़ने हैं ?

पिछले कुछ दिनों में मेरी अपनी ज़िन्दगी ने जो पलटे खाए हैं, उनके बारे में सोचकर हँसी भी आती है और रोना भी !

अपनी और रामकुमार की जिस बातचीत के बारे में तुम्हें लिखा था ना, उसके कुछ दिन बाद एक दिन सवेरे जो मैं माथुर्स के यहाँ पहुँची तो क्या देखती हूँ कि रूप को सुबह-सुबह ही न्यूरालिजया का सख्त दौरा पड़ रहा है और शम्मो को पेट दर्द का। मुझे देखते ही माथुर साहब बोले, "सलमा बेटी, तुम्हें मालूम है राम कौन-सी दवाएँ इनको दिया करता था ? ज़रा देना निकाल कर। वह तो अच्छा हुआ कि वह जल्दी में अपना काला दवाओं का बक्स भूल गया है।"

"भूल गया है ? क्या राम साहब चले गए ?"

"हाँ, कल रात को एक बजे बम्बई से तार आया कि उसे फौरन वापस आ जाना चाहिए। उसकी नई फिल्म 'अधूरे सपने' का मुहूर्त्त है। इसलिए वह आज सबेरे के गेट से ही चला गया .... हाँ, ज़रा जल्दी करना, वह दवा निकालना।"

मैं भौंचक्की-सी रह गई, मगर कोने में रखा हुआ दवाओं का बक्स खोला तो देखा कि उसमें सारी शीशियाँ गायब हैं; सिर्फ़ एक दवा की शीशी रखी है—'इगनेशिया' ! और उस पर नाम के नीचे राम के हाथ से लिखा हुआ था—"हिस्टीरिया की हर शक्ल के लिए अकसीर है—राम का नाम लेकर खाई जाए तो ज़रूर फ़ायदा होगा!"

"सुना तुमने," मैंने शम्मो को दवा खिलाते हुए कहा। "राम लिख गया है कि राम का नाम लेकर दवा खाई जाए तो तुम्हें ज़रूर फ़ायदा होगा।"

और यह सुनकर शम्मो को बावजूद सख्त दर्द के हँसी आ गई। कहने लगी, "रामजी बड़े मज़ाकिया हैं। देखा, मेरे आटोग्राफ़-बुक में क्या लिख गए हैं?" तकिए के नीचे से किताब निकाल कर दिखाई। राम के अनोखे हैंडराइटिंग में लिखा था—"पेट के दर्द में हँसी बहुत फ़ायदा करती है। शर्त सिर्फ़ यह कि रोगी अपने आप पर हँसने की योग्यता पैदा करे।"

"बड़ा दुष्ट है राम!" रूप दवा की खुराक़ खाते हुए बोली। "मुझे एक पुराने सिनेमा टिकट पर आटोग्राफ़ देकर गया है और उस पर लिखा है—"आधे सिर का दर्द पूरे सिर के दर्द से बेहतर है, क्योंकि आधा सिर तो सोचने के काबिल रहता है—अगर कोइ अपने सिर से महसूस करने के बजाय सोचने का कष्ट सहन कर सके!" और यह सुनाकर वह भी हँस पड़ी। और मुझे ऐसा लगा कि राम की होमियोपैथी उसकी गैरहाजिरी में भी काम कर रही है।

मैंने माथुर साहब से पूछा, "क्या मेरे लिए कोई ख़त—कोई पैग़ाम – नहीं छोड़ गए?"

"ऊँहुँ, कुछ नहीं।" और फिर कुछ सोचकर, "हाँ, तुम्हारी आटोग्राफ़-बुक दे गया है। यह लो।"

मैंने जल्दी-जल्दी पन्ने उलटे। लिखा था— 'जीवन की सच्चाई

सिनेमा की परछाइयों से कहीं ज्यादा दिलचस्प है—और पूरा इन्सान आधे इन्सान से बेहतर होता है।"

"आधा इन्सान ?" और मैं राम की ज़बानी एक्टर की तारीफ़ याद करके बेइख्तियार मुस्करा दी—हालाँकि मेरी आँखों में आँसू डबडबा रहे थे। 'मगर पूरे इन्सान से उसका क्या मतलब है ?' अभी यह सवाल मेरे दिमाग़ में कौंधा ही था कि एक हल्की-सी आवाज़ कान में पड़ी—"सलमा !"

मैंने मुड़ कर देखा, दरवाजे में वही पुराना ट्वीड का कोट पहने (जिसके मोंढे पर मेरे हाथ से रफ़ू किया हुआ है) अहमद खड़ा मुस्करा रहा है।

"अहमद !" मैं चिल्लाई। "तुम यहाँ कैसे और कब आए ?"

"अभी-अभी सीधा चला आ रहा हूँ। कहो, तुम्हारी तबीयत कैसी है ?"

"मेरी तबीयत ? क्यों, मेरी तबीयत को क्या हुआ ?"

"मगर उसने तो लिखा था, एक बड़े मशहूर होमियोपैथ ने बताया है कि तुम्हें दिल की बीमारी होने का ख़तरा है !"

"क्या पहेलियाँ बुझवा रहे हो ? और किस नामाकूल ने तुम्हें यह बकवास लिखी है ?"

"उसी उल्लू राम कुमार ने और किसने ? मगर वह नालायक है कहाँ ?"

रामकुमार ने ? मेरा दिमाग़ इस अनोखे गोरखधंधे को समझने की कोशिश कर रहा था ! "रामकुमार से तुम्हारा क्या

सरोकार ? तुम उसे कैसे जानते हो ?"

अहमद ने एक कुरसी पर बैठते हुए कहा, "उस बदमाश को मैं नहीं जानता तो और कौन जानता है ? कम-से-कम पन्द्रह बरस तो स्कूल और कालेज में हम साथ पढ़े हैं; छः साल होस्टल में इकट्ठे एक ही कमरे में रहे हैं। उसी की वजह से मैंने इकोनामिक्स में एम० ए० लिया; दोनों मिल कर रिसर्च करने वाले थे। और तुम कहती हो, मैं उसे कैसे जानता हूँ। तुम्हारे लिए वह तोप एक्टर होगा, मैं तो उसे अब भी वैसा ही उल्लू समझता हूँ। वह है कहाँ ?"

"वह तो चला गया," माथुर साहब ने कहा।

"देखिए न, ये हैं इस नालायक की हरकतें। मुझे इतनी दूर से बुलाया, और खुद ग़ायब !'

माथुर्स के यहाँ से अपने घर आते हुए रास्ते में मैंने अहमद से कहा, "फिर अब क्या इरादा है ?"

"इरादा क्या है ?" एक नए लहजे में उसने मेरे शब्द दोहराए, और राहगीरों की परवा न करते हुए सड़क के बीचोंबीच मुझे रोककर मेरी आँखों में आँखें डालते हुए कहा, "इरादा यह है, सलमा, कि अभी जाकर तुम्हारे पापा कुँवर साहब से कहने वाला हूँ कि मैं तुमसे शादी करना चाहता हूँ। कल शादी हो जायगी और..."

"और...?" मैं इतनी हैरान थी कि क्रोध करना भी भूल गई थी कि उसे मेरी तरफ से सब फ़ैसला करने का अधिकार किसने दिया है ?

"और फिर परसों हम हनीमून के लिए बम्बई रवाना हो जाएँगे। वहाँ मैं मिल-मज़दूरों की हालत पर रिसर्च करने वाला हूँ। राम ने लिखा है कि हम उसके यहाँ ठहर सकते हैं!"

"मैं बम्बई-वम्बई नहीं जाऊँगी!" मैं गुस्से से चिल्लाई।

"इसका मतलब है कि और सब बातें तुम्हें मंजूर हैं! अपना क्या है, बम्बई न सही कलकत्ते सही, कानपुर सही। हाँ, बम्बई में अपना दोस्त है!"

"मुझे तुम्हारा दोस्त नहीं पसन्द!"

"ओह, राम? उसे पसंद करने के लिए जरा ज्यादा अक्ल की ज़रूरत है।" और यह कहकर अहमद खूब हँसा और बड़ी बेशर्मी से मेरे हाथ में हाथ डालकर चलने लगा। और मेरी समझ में नहीं आता था कि मैं अपना हाथ झटककर उसे मारूँ, उसे नोचूँ-खसोटूँ, या उससे लिपटकर खूब रोऊँ. खूब रोऊ.....

और फिर...बिलीव इट आर नॉट (Believe it or not) अहमद ने पापा से इस फ़ैसले के ढंग से बात की कि उन्होंने शादी की इजाज़त दे दी है। मगर तैयारियों के लिए दस दिन की मुहलत माँगी है। सो अगले हफ्ते २४ सितम्बर को हमारी शादी है—यहीं मसूरी में। और इसीलिए तुम्हें यह ख़त लिख रही हूँ। तुम्हारी मौजूदगी ज़रूरी ही नहीं, बिलकुल ज़रूरी है। तुम न आईं तो मैं बहुत-बहुत नाराज़ हूँगी। समझीं! सो इस ख़त को तार समझो और फ़ौरन चली आओ। बाक़ी मिलने पर।

तुम्हारी हैरान-परेशान, मगर खुश—
सलमा

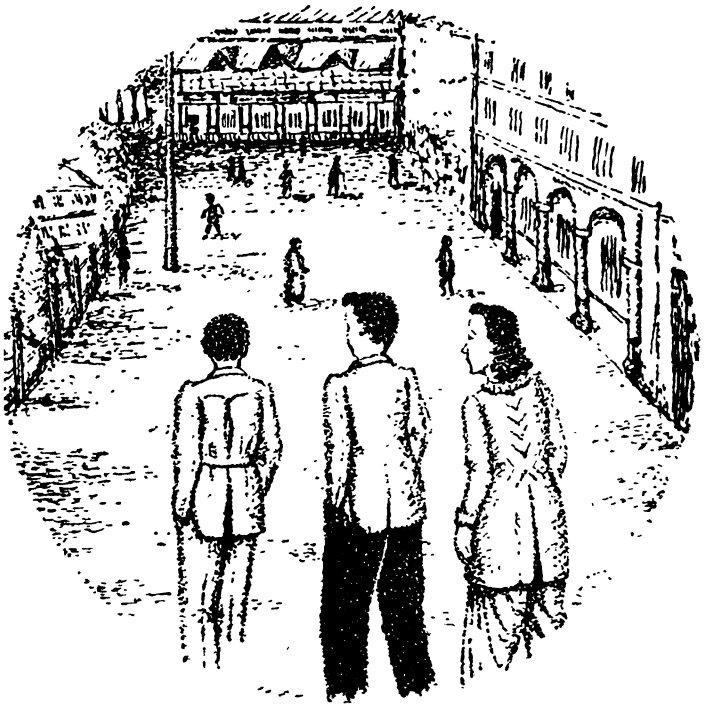

मसूरी,

२३ सितम्बर, '१९५२।

ऊषा प्यारी,

कल शाम को हम आख़िरी बार सैर को गए। लाइब्रेरी पर वही बेफ़िक्रे नौजवानों और रंगीन तितलियों की भीड़ थी। मगर न जाने क्यों इस बार बेफ़िक्रों की मुस्कराहटें काफ़ी फ़िक्र-भरी नज़र आईं और तितलियों के रंग ऐसे लगे जैसे फीके पड़ गए हों। अहमद की मौजूदगी मुझे उन बेहूदा एक्सरे निगाहों से बचाए हुए थी। थोड़ी देर के लिए हेकमैन्स भी गए और स्केटिंग रिंक भी।

मगर दोनों जगह कोई रौनक नज़र नहीं आई। एक तो भीड़ कम थी, दूसरे जो लोग थे वे भी थके हुए, मुरझाए चेहरों को लिए ह्विस्की के घूँट इस तरह पी रहे थे जैसे ज़हर पी रहे हों। बैंड एक निहायत रोती हुई, बल्कि सिसकती हुई धुन बजा रहा था जिस पर इन्सान तो नहीं मौत ही नाच सकती है। लौटे तो देखा कि मसूरी की रोशनियाँ कुहरे की गहरी चादर में से टिमटिमा रही हैं। कोई रिक्शा चलती भी दिखाई न दी। (इसलिए कि रिक्शा वालों ने दो दिन से हड़ताल कर रखी है!) रास्ता चलते सरदी के मारे अपने कोट के कालरों में सिर छुपाए जल्दी-जल्दी क़दम उठाए जा रहे थे। मैंने कहा, "ऐसा लगता है, मसूरी इस ठिठुरी हुई सर्दी में कम्बल लपेट कर सो रहा है।" अहमद ने कहा, "सो रहा है? —या दम तोड़ रहा है?" इस पर भाईजान बोले, "अक्तूबर बस आने ही वाला है। सीज़न भी तो ख़त्म हो गया है—हमेशा के लिए!"

घर पहुँचे तो तुम्हारा ख़त मिला। मुबारकबाद का शुक्रिया।

तुम्हारी तबीयत की ख़राबी की ख़बर काफ़ी परेशान करने वाली है। अफ़सोस है कि तुम कल यहाँ मौजूद न होगी। ख़ैर, अपना इलाज पूरा कराओ—तुम्हारे पिताजी तो ख़ुद डॉक्टर हैं! पेट का एक्सरे फौरन होना चाहिए। अगर अपेंडिक्स निकले और ऑपरेशन की सलाह हो तो मुझे ख़बर देना ताकि मैं वहाँ तुम्हारी देखभाल के लिए आ सकूँ।

यह ख़त जल्दी में लिख रही हूँ। इस समय घर की क्या हालत

और मेरा क्या मूड है, यह तुम अंदाजा लगा सकती हो।

तुम्हारी—

सलमा

पी० एस : अगर एक्सरे में अपेंडिक्स न निकले और इस पेट के दर्द का कारण न मालूम हो सके, तो मुझे लिखना। 'इगनेशिया' की एक पुड़िया भेज दूँगी। राम का नाम लेकर खाना, ज़रूर फायदा होगा।

पी० पी० एस : यह तुमने क्या मूर्खता की कि एक बार फ़िलासफ़ी और साइकालोजी छोड़कर इकोनामिक्स ली, और अब फिर इकोनामिक्स छोड़कर इंगलिश लिटरेचर ले रही हो ?

—०—

अवध की शाम
और
मेरा बेटा मेरा दुश्मन

(अब्बास के दो नये कहानी-संग्रह)

कुछ लोग कहते हैं, अब्बास पत्रकार पहले है और कहानीकार पीछे ! कुछ उसे पहले कहानीकार समझते हैं और बाद में पत्रकार ! जिन्होंने उसके फिल्म 'धरती के लाल' और 'अनहोनी' देखे हैं, वे उसे सब से ऊपर फ़िल्मकार मानते हैं ।

वास्तव में अब्बास सब कुछ है—वह पत्रकार भी है, फिल्मकार भी और कहानीकार भी । उसके पत्रकार का योग उसके कहानीकार को सदा मिलता है और उसके कथाकार का उसके पत्रकार को । ब्लिट्ज़ का अन्तिम पृष्ठ जो अब्बास हर हफ़्ते लिखता है, इसी कारण कहानी का-सा रोचक होता है और इसी कारण उसकी कहानियाँ अपूर्व सामाजिकता लिये हुए होती हैं ।

'अवध की शाम' और 'मेरा बेटा मेरा दुश्मन'—पत्रकार, फिल्मकार, कहानीकार 'अब्बास' की उन कहानियों के अपूर्व संग्रह हैं, जिनमें समाचारों की-सी ताज़गी, फिल्मों की-सी दिलचस्पी और उत्कृष्ट कला-कृतियों का सा स्थायित्व है ।

लेकिन इन कहानियों को, आप समाचार-पत्रों की तरह पढ़ कर फेंक नहीं देते और भूल नहीं जाते, वरन् ऊँचे दर्जे के फिल्मों की तरह वे फिर-फिर आपकी आँखों के आगे आती रहती हैं ।

अश्क का कथा-साहित्य

पिंजरा—तेरह सरल सरस कहानियों का अति मनोरंजक संग्रह, जिनकी कटु यथार्थता सीधी हृदय को चीरती चली जाती है। नया संस्करण ३)

* * *

दो धारा—श्रीमती कौशल्या अश्क तथा श्री अश्क की दस अपेक्षाकृत लम्बी कहानियों और दो रेखा चित्रों का संग्रह, जिनमें लेखक दम्पति ने अपने-अपने दृष्टि-कोण से एक दूसरे का ख़ाका खींचा है। ३।)

* * *

काले साहब—अश्क जी की नयी कहानियों और संस्मरणों का अति मनोरंजक संग्रह, जिनमें उनकी सभी तरह की कहानियां संकलित हैं। ३।।।)

* * *

जुदाई की शाम की गीत—अश्क जी की रूमानी कहानियों का सर्वोत्तम संग्रह ३।।।)

* * *

छींटे—हास्य व्यंग्य से ओत-प्रोत अश्क जी की ४२ कहानियों का अपूर्व संग्रह। ५)

* * *

बैंगन का पौधा—अश्क जी की कहानियों का नवीन संग्रह। ३।)